राष्ट्र की अवधारणा और हिन्दी भाषा

(जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पीएच.डी उपाधि हेतु शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक
डॉ0 गोबिंद प्रसाद

शोधार्थी
शिवानीचोपड़ा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067
2005

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature, & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 20.7.05

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitle **"RASHTRA KI AVDHARNA AUR HINDI BHASHA"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

Mrs.Shivani Chopra
(Research Scholar)

Dr. Gobind Prasad
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language
Literature and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

Prof. Mohd. Shahid Hussain
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language
Literature and Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

राष्ट्र की अवधारणा और हिन्दी भाषा

विषय सूची

भूमिका		i - xi
प्रथम अध्याय :	राष्ट्र की विभिन्न अवधारणाएँ	1 – 47
(i)	राष्ट्रवाद और संस्कृति	10 – 19
(ii)	राष्ट्रवाद और धर्म	20 – 35
(iii)	राष्ट्रवाद और भाषा	36 – 47
द्वितीय अध्याय :	राष्ट्रवाद और नवजागरण	48 – 87
(i)	नवजागरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पाश्चात्य संदर्भ	48 – 56
(ii)	भारत में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का निर्माण	57 – 66
(iii)	साम्प्रदायिकता और हिन्दी–उर्दू विवाद	67 – 76
(iv)	अंग्रेज़ी भाषा व शिक्षा का प्रभाव	77 – 87
तृतीय अध्याय :	राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद का प्रश्न	88 – 129
(i)	हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं की भूमिका	88 – 116
(ii)	सामासिक संस्कृति और भाषिक भिन्नता	117 – 129
चतुर्थ अध्याय :	राष्ट्रवाद और स्वाधीन भारत में हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में संबंध	130 – 169
(i)	राष्ट्रभाषा – राजभाषा का प्रश्न	130 – 144
(ii)	भाषाई राज्य की अवधारणा और हिन्दी का क्षेत्र	145 – 159
(iii)	भाषाई विवाद और सांस्कृतिक एकता	160 – 169
पंचम अध्याय :	स्वाधीनता के बाद राष्ट्रवाद और उत्तर उपनिवेशवाद	170 – 196
(i)	उपनिवेशवाद बाह्य और आंतरिक	170 – 177
(ii)	राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद	178 – 189
(iii)	उत्तर उपनिवेशवाद : संदर्भ –भाषा	190 – 196
उपसंहार		197 – 215
	संदर्भ ग्रंथ सूची	216 – 224
	पत्र–पत्रिकाओं की सूची	225
	अंग्रेज़ी पुस्तकों की सूची	226 – 227

भूमिका

पिछले कुछ दशकों में अस्मिता, सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्र से जुड़ी समस्याओं को 'भाषा से जोड़ कर देखा गया है। कोई 'भाषा' पिछड़ी या उन्नत नहीं होती बल्कि भाषिक समाज विशेष की भौगोलिक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्थितियाँ मिलकर भाषा या भाषिक समुदाय दोनों को प्रभावित करती हैं। इन्हीं कारणों से भाषा अपनी स्थिति और रूप की संरचना करती है। हिन्दी भाषा को अब तक एक संघर्षशील भूमिका में देखा गया, जो कभी अंग्रेज़ी का सामना कर रही है तो कभी उर्दू से उलझ रही है और कभी बंगाली, मराठी, गुजराती, पंजाबी या दक्षिण भारतीय भाषाओं का सामना कर रही है। ये सवाल महज़ भाषाओं की आपसी टकराहट के नहीं। इन्हें व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की लगातार कोशिश की जानी चाहिए। भाषा का सवाल संस्कृति और अस्मिता का सवाल बनता रहा है परंतु उसे पुनर्परिभाषित करते रहना पड़ेगा। तब संस्कृति और अस्मिता के प्रश्न जैसी अवधारणाओं की व्याख्या करने की भी जरूरत पड़ेगी। वास्तविकता यह है कि भाषा, संस्कृति और अस्मिता के प्रश्न ऐतिहासिक व्याख्याओं पर निर्भर रहे हैं। उन ऐतिहासिक व्याख्याओं को शाश्वत धारणाओं के रूप में समाज में जड़ स्थान मिलता रहा है, जिन्हें पहचानना जरूरी है। तभी उनसे परे और उनके आगे देखा जा सकेगा। साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, राजनीतिक संकीर्णता जैसी समस्याओं में भाषा को आधार बनाया गया है। एक राष्ट्र के भीतर इन आंतरिक समस्याओं का दबाव लगातार बना रहा। वहीं एक उपनिवेश से राष्ट्र बनने की प्रक्रिया और बाह्य स्थितियों व संघर्षों का सामना करते हुए अपनी भाषा संस्कृति व अस्मिता के समक्ष चुनौती पाना। ये दोहरे स्तर पर संघर्ष की स्थितियाँ हैं।

इसलिए प्रस्तुत शोध में ऐतिहासिक स्थितियों और वर्तमान वस्तुस्थिति दोनों के संदर्भ में भाषा की स्थिति का विश्लेषण किया गया है। जिन्हें अब तक 'भाषा' की समस्या विशेष समझ कर 'भाषा' सुधार या विकास अभियान चलाए गए हैं, वे कितने निरर्थक और बेमानी हैं। यह तभी पता चल पाएगा जब समस्याओं को व्यापक संदर्भों में देखा जाए।

भाषा का संघर्ष एक लघु संघर्ष है जो उस व्यापक सामाजिक संघर्ष का हिस्सा है जिसमें विकसित–अविकसित, उच्च–निम्न, स्व और अन्य के बीच का भेद है। ऐसे द्वैत–समाज में धार्मिक साम्प्रदायिकता, जातीयता, लिंग–भेद, रंगभेद, क्षेत्रीयता आदि के आधार पर अस्मिताओं का निर्माण करते हैं, जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव 'भाषा' पर पड़ता है।

प्रस्तुत शोध में 'हिन्दी' से जुड़ी जिन समस्याओं पर विचार किया गया है, वे हैं – जातीयता का प्रश्न, धार्मिक साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीयता की समस्या। ये सभी समस्याएँ राष्ट्र की अवधारणा और उसकी निर्माण प्रक्रिया से जुड़ी हुई हैं या कहा जा सकता है कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में प्रमुख बाधाओं के रूप में इनका विश्लेषण किया जा सकता है। प्रश्न 'राष्ट्र' की विभिन्न अवधारणाओं का भी है क्योंकि 'राष्ट्र' निर्माण की बात संकीर्ण विचारधारा वाले भी करते हैं और उदारवादी भी। दूसरा प्रश्न जो सामने आता है वर्तमान स्थितियों के संदर्भ में कि क्या 'राष्ट्र' एक मिथक है और उसके मामले दिन–ब–दिन संकुचित होते जा रहे हैं। 'राष्ट्र' कई आर्थिक कारणों से पूर्णतः 'राज्य' बन गए हैं, गैर–जरूरी हो गए हैं। इसलिए एक संस्कृति, धर्म, प्रजाति, भौगोलिक प्रदेश और 'भाषा' के आधार पर राष्ट्र निर्माण की अवधारणा अपना अर्थ पूरी तरह से खो चुकी है। जहाँ इस अवधारणा का जन्म हुआ – यूरोप में, वहाँ भी आज राष्ट्र इस अर्थ में परिभाषित नहीं होता। प्रत्येक राष्ट्र अपने निर्माण की प्रक्रिया खुद तय करे और ऐसी व्यापक अवधारणा का विकास करे जिसका लक्ष्य 'मानव' मात्र की चिंता न हो, मानवता की हो। 'राष्ट्र' को निर्मित करने वाले निर्धारक तत्त्वों में सामान्य भू–क्षेत्र, सामान्य नस्ल, धर्म, भाषा,

इतिहास, संस्कृति, आर्थिक हित या सामान्य अधीनता या कष्ट, राजनीतिक आकांक्षाएँ और लोकप्रिय इच्छा आदि को आमतौर पर आवश्यक माना गया है। विरोधाभास इस बात में है कि जहाँ ये सामान्य तत्त्व किसी राष्ट्र को निर्मित करने में आवश्यक होते हैं वहीं इनका अतिवादी रूप किसी भी राष्ट्र को खण्डित भी करता है।

अब राष्ट्रवाद का अभिप्राय केवल यह लेना कि जिसके लोगों में 'समानता' हो, एकरूपता हो, उसे संकीर्ण दायरे में परिभाषित करना होगा। आज 'राष्ट्रवाद' समान सरकार और उसके लोगों के सामान्य हितों पर अपना विकास कर रहा है, जिसके विरोधाभास हैं – जिन्हें सामान्य हित बताया जाता है उन्हीं के आधार पर लोगों को बाँटा भी जाता है और 'भाषा' उनमें से एक प्रमुख तत्त्व है।

पॉल ब्रास अपने शोध में इसे भद्रवर्ग के हितों और आकांक्षाओं का परिणाम मानते हैं। इस भद्र वर्ग का सरकार निर्माण और राजनीति से सीधा संबंध होता है। अपने हितों और आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अर्थात् अपनी सामाजिक स्थिति, वर्गीय स्थिति और सत्ता पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए यह वर्ग – 'धर्म' और 'भाषा' जैसे तत्त्वों के आधार पर लोगों को बाँटने का प्रयास करता है। परंतु हमारे समक्ष प्रश्न ये उठते हैं कि समाज में ये विभाजन पहले से मौजूद होते हैं या इस तरह के विभाजन पैदा किए जाते हैं ? समाज में पहले से मौजूद भिन्नताओं का राजनीतिकरण ही 'राष्ट्रीय' अस्मिता के लिए खतरा बनता है।

प्रस्तुत शोध में 'भाषा' को केंद्र में रखकर उसके राजनीतिकरण से पैदा होने वाली समस्याओं पर विचार किया गया है। वर्तमान स्थितियों को देखते हुए विभिन्न भाषिक संस्कृतियों के अस्तित्व और उनके मुख्य धारा में प्रतिनिधित्व के सवाल खड़े हुए हैं। इस धारणा ने 'राष्ट्र' को नए रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है, जहाँ पूर्व सभी

विचारधाराओं और अवधारणाओं में मौजूद 'सांस्कृतिक वर्चस्व' के विरुद्ध व्यवस्था में प्रतिनिधित्व की मांग मुख्य रूप से सामने आई।

इसलिए भानू प्रताप मेहता अपनी हाल में लिखी चर्चित पुस्तक 'द बर्डन ऑफ डेमोक्रेसी' में लोकतंत्र को 'राष्ट्रवाद' के समकक्ष मानते हैं। उनका मानना है कि प्रत्येक 'राष्ट्र' में इतने प्रकार की विभिन्नताएँ मौजूद हैं कि उन्हें किसी एक परिभाषा में बाँधना संभव नहीं। सभी भिन्नताओं के साथ विभिन्न संस्कृतियों के सहअस्तित्व को स्वीकार करना, इसके पीछे जो भी राजनीतिक–आर्थिक कारण रहे हों, यह केवल 'लोकतंत्र' की धारणा में ही संभव है। 'राष्ट्रवाद' का विकास पूँजीवाद के साथ–साथ हुआ है और पूँजीवाद सबसे अधिक लोकतंत्र के अंदर ही फला–फूला है। प्रश्न यह है कि लोकतंत्र को किस रूप में स्वीकार किया जाए जिसमें राष्ट्र के भीतर मौजूद सभी संस्कृतियों को अपना विकास करने का मौका मिले।

प्रस्तुत शोध में राष्ट्र की अवधारणा के विकास के संदर्भ में हिन्दी भाषा की स्थिति का विश्लेषण किया गया है। अगर राष्ट्र का अभिप्राय एक 'भाषाई–संस्कृति' है तो हिन्दी किनकी भाषा है ? डॉ. धर्मवीर भारती 'हिन्दी की आत्मा' ग्रंथ में हिन्दी को श्रमिक संस्कृति की भाषा बताते हैं। संस्कृत को देश की वास्तविक भाषा न मानते हुए, हिन्दी का वास्ता आम जनसमुदाय के बड़े भाग से बताते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा 'भाषा और समाज' ग्रंथ में हिन्दी की जातीयता के प्रश्न को उठाते हैं। हिन्दी का कोई एक निश्चित जातीय प्रदेश नहीं है, फिर भी सभी हिन्दी बोलते हैं। परंतु वह कौन–सी प्रादेशिक संस्कृति है जिसकी भाषा हिन्दी है ? यहाँ हिन्दी–भाषा के इतिहास पर भी सवाल खड़े होते हैं।

प्रस्तुत शोध में इस पर विचार किया गया है कि भाषा और राष्ट्र की विभिन्न परिभाषाओं व राजनीति के बीच किस तरह के संबंध बनते रहे हैं। शोध के आरंभ में इस

लघु भूमिका के द्वारा कुछ प्रश्न, संदर्भ वह जिज्ञासाओं को रखा गया है, जिसके माध्यम से प्रस्तुत शोध की प्रासंगिकता व आवश्यकता बताई गई है। इस शोध में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय शोध पद्धति का सहारा लेते हुए राष्ट्र और भाषा के परस्पर संबंधों पर विचार किया गया है।

प्रथम अध्याय : 'राष्ट्र की विभिन्न अवधारणाएँ' के अंतर्गत 'राष्ट्र' निर्माण के आधारभूत तत्त्वों – संस्कृति, धर्म और भाषा की विभिन्न परिभाषाओं पर विचार किया गया। इनके बीच परस्पर संबंध किस तरह से 'राष्ट्र' की संरचना व स्वरूप को प्रभावित करते हैं, हिन्दी भाषा की स्थिति को केंद्र में रखते हुए इसका विश्लेषण किया गया है। जिन देशों की स्थिति, भारत की सांस्कृतिक व भाषिक स्थितियों से मेल खाती हैं, क्या वहाँ साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, भाषावाद, अलगाववाद जैसी प्रमुख समस्याएँ सामने आईं ? क्या वहाँ भी धर्म–भाषा व संस्कृति के बीच परस्पर संबंधों में इस तरह की जटिलता मिलती है जैसी भारत में है और उनका राजनीतिकरण; राजनीतिक दुरुपयोग के लिए किया गया ? इसके अलावा भारत में कौन–सी ऐसी विशेष स्थितियाँ रही हैं जो उसे अन्य देशों के अनुभव से अलग करती है, आदि का अध्ययन किया गया है।

इस अध्याय में तीन खण्ड हैं – राष्ट्रवाद और संस्कृति, राष्ट्रवाद और धर्म, राष्ट्रवाद और भाषा। इनमें राष्ट्रवाद के संदर्भ में सभी पर स्वतंत्र रूप से विचार किया गया है। इनकी विभिन्न परिभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। पहले भाग में भारतीय संस्कृति की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। अब तक साहित्य में, इतिहास में और मौजूदा सामाजिक धारणाओं में भारतीय संस्कृति की अलग–2 व्याख्याएँ मिलती रही हैं, उनका हिन्दी भाषा पर क्या प्रभाव पड़ा ? भाषा संस्कृति का प्रमुख अंग है और अगर भारत राष्ट्र एक सामुदायिक संस्कृति का निर्माण करता है तो 'हिन्दी' अब तक

किस–किस तरह के सामाजिक उतार चढ़ाव से गुज़री है। समय–समय पर क्यों भारत की अलग–अलग सांस्कृतिक व्याख्या करने की जरूरत पड़ी। बदलते राजनीतिक परिदृश्यों के साथ भारत की विभिन्न सांस्कृतिक छवियाँ सामने आईं, इसका प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी भाषा पर पड़ा। दूसरे भाग : 'राष्ट्रवाद और धर्म' के अन्तर्गत धर्म के सामाजिक महत्त्व, राजनीतिक प्रयोग और समाज पर उसके प्रभाव के बारे में बताया गया है। धर्म के साम्प्रदायिक रूप और उसके माध्यम से अलगाव की भावना पैदा करने वाली प्रवृत्तियों की चर्चा की गई है। धार्मिक कट्टरता को आधार बनाकर राष्ट्र का निर्माण करने वाली विचारधाराओं का विश्लेषण किया गया है। तीसरे और अंतिम भाग राष्ट्रवाद और भाषा में भाषा के आधार पर राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करने वाली प्रक्रियाओं का अध्ययन किया गया है। संस्कृति और धर्म से भाषा का किस प्रकार का संबंध अतीत में बनाया गया, उसकी ऐतिहासिक जांच–पड़ताल की गई है। भाषा के सांस्कृतिक संदर्भों व सामाजिक भूमिका का विश्लेषण किया गया है।

दूसरे अध्याय : 'राष्ट्रवाद और नवजागरण' में हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास में जिसे नवजागरणकाल कहा जाता है, उस समय 'राष्ट्रवाद का विकास किस रूप में हुआ, उस समय के लेखकों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रवाद को किस रूप में परिभाषित किया है, वे कौन सी स्थितियाँ थीं जिनके कारण उस दौर के लेखकों के लिए अपने साहित्य में 'राष्ट्रवाद' की व्याख्या करना आवश्यक हो गया आदि जिज्ञासाओं का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है। इस दौर के लेखक 'भाषा' और राष्ट्र के मध्य किस प्रकार के संबंध स्थापित करते हैं : इन प्रश्नों को केंद्र में रखते हुए इस अध्याय का दो भागों में विभाजन किया गया है। पहले भाग में – 'नवजागरण' ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पाश्चात्य संदर्भ' में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते हुए ज्ञानोदयकाल और राष्ट्रवाद के उदय के बारे में बताया गया है। पश्चिम में (यूरोप में) इसके उदय और उन

स्थितियों का विवरण दिया गया है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद का विकास हुआ। दूसरे भाग 'भारत में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का निर्माण' में राष्ट्रवाद के संदर्भ में भारतीय नवजागरण' की स्थितियों का अध्ययन किया गया है। इसके अंतर्गत भारत में राष्ट्रवाद के उदय की स्थितियों का विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण भाषाई राष्ट्रवाद के संदर्भ में किया गया है। भारत में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का निर्माण शीर्षक के अन्तर्गत यह देखने की कोशिश की गई है कि हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का विकास किस प्रकार हुआ। तीसरे, भाग 'साम्प्रदायिकता और हिन्दी–उर्दू विवाद' में भाषा और धर्म को परस्पर जोड़ने की राजनीति और 'राष्ट्र' को खण्डित करने वाली विचारधारा का विश्लेषण किया गया है। इसमें विभिन्न भाषाई और साहित्यिक समितियों की भी भूमिका रही है। 'अंग्रेज़ी भाषा और शिक्षा का प्रभाव' नामक चौथे व अंतिम खण्ड में औपनिवेशिक भाषा के रूप में 'अंग्रेज़ी' की भूमिका का विश्लेषण किया गया है। इसमें सरकारी नीतियों व निर्णयों का भी उल्लेख किया गया है।

तीसरा अध्याय : 'राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद का प्रश्न' है। राष्ट्रीय आंदोलन राष्ट्रवाद के विकास की चरम सीमा थी जब राष्ट्र निर्माण के लिए देश की सामाजिक संस्कृति और एक देश भाषा का चुनाव कर लिया गया था। परंतु उसके समक्ष अनेक बाधाएँ थीं, जिसके बारे में इस अध्याय के दो भागों – 'हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं की भूमिका' तथा 'सामाजिक संस्कृति और भाषिक भिन्नता' में क्रमशः बताया गया है। यह हमारे समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी कि बावजूद भाषिक भिन्नता के सामासिक संस्कृति का निर्माण करने का प्रयास किया जाए पर सामासिक संस्कृति की अवधारणा कितनी सच थी और कितनी मिथक ? इस पर हमेशा प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं।

चतुर्थ अध्याय : 'राष्ट्रवाद और स्वाधीन भारत में हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में संबंध' के अंतर्गत राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया के साथ हिन्दी व अन्य

भाषाओं की वस्तुस्थिति का जायज़ा लिया गया। इस अध्याय के प्रथम खण्ड में 'राष्ट्रभाषा–राजभाषा के प्रश्न' को उठाया गया। जो मुद्दा दोहराते–दोहराते पूरी तरह से घिस गए और फिर भी कभी सुलझ नहीं पाए, उन्हें नए संदर्भों, नई स्थितियों में देखने की कोशिश की गई है। इस अध्याय के दूसरे खण्ड – 'भाषाई राज्य की अवधारणा और हिन्दी का क्षेत्र'। भारत में विभिन्न भाषिक संस्कृतियों को जोड़ने के लिए राज्यों का विभाजन भाषाओं के आधार पर किया गया न कि धर्म के आधार पर। परंतु यह विभाजन हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं के लिए कितना लाभदायक रहा ? बंदर–बाँट की इस लड़ाई में पलड़ा हमेशा से अंग्रेज़ी का ही भारी रहा, यह एक सर्वविदित तथ्य बन गया। 'अंग्रेज़ी' की आवश्यकता का झूठ दोहराते–दोहराते सच बन गया। प्रस्तुत शोध में इस मिथक को भ्रम साबित करने के लिए पुनः ऐतिहासिक पड़ताल की गई है। क्या वास्तव में अंग्रेज़ी सभी भाषिक संस्कृतियों में सहायक सिद्ध हुई ? तीसरे व अंतिम खण्ड – 'भाषाई विवाद और सांस्कृतिक एकता' में उपरोक्त प्रश्न को उठाया गया है।

पाँचवे और अंतिम अध्याय में 'स्वाधीनता के बाद राष्ट्रवाद और उत्तर उपनिवेशवाद' के संदर्भ में भाषाई संस्कृतियों की स्थिति का विश्लेषण किया गया है। कई व्याख्याओं और विश्व की बदलती परिस्थितियों ने 'राष्ट्रवाद' की भावनात्मक आवश्यकता को बहुत हद तक कम किया है। उपनिवेशवाद की समाप्ति और राजनीतिक स्वतंत्रता 'राष्ट्रवाद' के विकास का परिणाम था। परंतु 'राष्ट्रवाद' पूर्व उपनिवेशों के विकास में सहायक न हुआ। उनकी भाषा व संकृति परतंत्रता की जकड़ से मुक्त नहीं हो पाई। उत्तर–उपनिवेशवाद काल सांस्कृतिक–उपनिवेशवाद का दौर रहा, जिसमें पूर्व उपनिवेशों की भाषा और संस्कृति पर अपनी भाषा और संस्कृति लाद कर उनकी पूँजी व आर्थिक साधनों पर नियंत्रण स्थापित किया गया। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए इस

अध्याय को भी तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड – 'उपनिवेशवाद बाह्य और आंतरिक' है। राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त होने के बावजूद भाषा और संस्कृति पर नियंत्रण स्थापित करके आंतरिक उपनिवेशवाद कायम रहां इसका विस्तृत अध्ययन किया गया है। दूसरा खण्ड – 'राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' है। इस खण्ड में राष्ट्रीयता के बदलते स्वरूप पर चर्चा की गई है। भौगोलिक सीमाएँ, भाषा, संस्कृति आदि अपने राजनीतिक अर्थ तो रखती हैं परंतु आर्थिक परिस्थितियों में बदलाव के कारण, वैश्विकरण के कारण देश, संस्कृति, भाषा व्यक्तिगत अस्मिता को बदल रही है। बड़े पैमाने पर स्थानांतरण के कारण भी ऐसा हुआ है। बाज़ार के विस्तार के साथ सांस्कृतिक उपनिवेशवाद कायम हुआ है। अंतिम खण्ड – 'उत्तर उपनिवेशवाद : संदर्भ भाषा' के अंतर्गत भारत की 'भाषिक' स्थिति की विवेचना की गई है। अंग्रेज़ी के प्रभाव और सम्पर्क भाषा की जगह को पूरी तरह से हड़प लेने के साथ भारतीय भाषाओं को विस्थापित करने वाली परिस्थितियों और कारणों को सामने रखा गया है। पूँजीवादी तंत्र, उद्योगों और बाज़ार से जिस उत्तर औपनिवेशिक परिवेश का निर्माण हुआ वे किस तरह भाषिक संस्कृतियों को पराधीन बनाए हुए हैं और उनके विकास में बाधक हैं, इस अंतिम अध्याय में यही बताने का प्रयास किया गया है।

इस शोध कार्य को पूरा करने में साहित्य अकादमी, रवींद्र भवन, नई दिल्ली के पुस्तकालय, तीनमूर्ति के पुस्तकालय, काशी के नागरी प्रचारिणी पुस्तकालय और जेएनयू के पुस्तकालय के अलावा चण्डीगढ़ शहर में मौजूद सभी पुस्तकालयों – पंजाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, ब्रिटिश लाइब्रेरी, लाजपतराय भवन के पुस्तकालय और डी.ए.वी. कॉलेज के पुस्तकालय से काफी मदद मिली। इस शोध कार्य को पूरा करने में महात्मागाँधी हिन्दी विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित पुनश्चर्या – 'हिन्दी का सार्वजनिक संसार' (10 जून 2003 – 02 जुलाई 2003) में हुए विचार–विमर्श से भी मदद मिली। खासकर डॉ. विशालाक्षी

मैनन (इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय) और डॉ. सलिल मिश्र (इतिहास, इगनऊ) द्वारा दिए गए व्याख्यान और उनसे हुई बातचीत में हिन्दी–उर्दू विवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े कई सवाल सामने आए। भाषा, साहित्य, संस्कृति और इतिहास हमेशा शोध और मूल्यांकन की संभावना रखते हैं। हर नए वक्त के साथ नए सवाल सामने आते हैं, जिन्हें पहचानना और उठाना ही उनके जवाब तलाश करने की शुरुआत है। इसी आकांक्षा से इस शोध ग्रंथ में हिन्दी भाषा, साहित्य और उसके देश व संस्कृति से जुड़ी समस्याओं को पुनः उठाने का प्रयास किया गया है। इस समस्या को व्यापक फलक पर देखने की कोशिश की गई है। इस शोध कार्य में कई कमियाँ रह गई होंगी जिन्हें नज़र अंदाज़ कर उन सवालों पर ध्यान देने की विनती है; जो कई बार दोहराए जा चुके हैं, जिनके जवाबों से भी हम अपरिचित नहीं सिर्फ एक नज़र चाहिए समय के साथ सही और व्यापक पहचान बनाने की।

इस शोध के निर्देशक डॉ. गोविन्द प्रसाद के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध विषय को चुनने में पूरी स्वतंत्रता दी। समय–समय पर शोध संबंधी नियमों की जानकारी और लम्बी बातचीत से मार्गदर्शन किया। भारतीय भाषा केन्द्र के सभी शिक्षकों के प्रति भी मैं आभारी हूँ। एम.ए. और एम.फिल. की कक्षाओं में प्रो. मैनेजर पाण्डेय, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल और डॉ. वीर भारत तलवार के व्याख्यानों से व्यापक दृष्टिकोण विकसित करने का मौका मिला। दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो. सुधीश पचौरी से भी लम्बी बातचीत करने का मौका मिला और चण्डीगढ़ में दिए उनके व्याख्यान में उत्तर–औपनिवेशिक स्थितियों व काव्य–भाषा से संबंधित बहुत–सी जानकारी मिली। डॉ. प्रताप सहगल और डॉ. यश गुलाटी ने शोध कार्य जल्दी पूरा करने के लिए हमेशा उत्साहित किया।

कुछ रिश्ते जो ज़िंदगी के हर मुश्किल और आसान काम में हमेशा साथ रहते हैं – पिता डॉ. इन्द्रजीत चोपड़ा और माँ चंद्रकला चोपड़ा, भाई – अमित और मधुर के बिना

शोधकार्य पूरा करना संभव नहीं था। कुछ दोस्त जिनका साथ हमेशा से रहा है, यह विश्वास ही कई बार मुश्किलों को आसान कर गया – कंचन, अंजुम, प्रदीप शर्मा, विकास, पूजा से हमेशा मदद मिलती रही। जीवन साथी डॉ. वैभव सिंह के लिए कुछ भी लिखना औपचारिकता ही होगी, इस शोध कार्य को पूरा करने में उन्होंने हमेशा सहयोग दिया।

– शिवानी चोपड़ा

प्रथम अध्याय : राष्ट्र की विभिन्न अवधारणाएँ

(i) राष्ट्रवाद और संस्कृति

(ii) राष्ट्रवाद और धर्म

(iii) राष्ट्रवाद और भाषा

अध्याय–1

राष्ट्र की विभिन्न अवधारणाएँ

'भाषा' संस्कृति और राष्ट्र का अभिन्न हिस्सा होती है, इसलिए भाषा से जुड़ा हर सवाल उसकी संस्कृति और राष्ट्रीयता पर किया गया सवाल है। 'अस्मिता' और 'स्वायत्तता' की बहसें 'राष्ट्र' की बदलती अवधारणाओं से ही निकली हैं। राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद औपनिवेशिक परिस्थितियों से उपजी अवधारणाएँ हैं इसलिए इन्हें आधुनिक अवधारणा के रूप में ही देखा जाना चाहिए। विश्व के केन्द्रीकरण या ध्रुवीकरण की शुरुआत भी तभी हो गई थी जब इंग्लैण्ड ने 18–19वीं सदी में 'राष्ट्र' के रूप में अपना विकास किया। अपने आपको एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना उसके लिए आसान भी था क्योंकि संस्कृति भाषा और धर्म जैसे निर्धारक तत्त्वों में एकरूपता देखी गई। इसलिए प्रायः अधिकतर विद्वान पाश्चात्य राष्ट्रवाद को पूर्व में राष्ट्रवाद के विकास से अलग करके विश्लेषित करते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रवाद को राजनीतिक मानते हैं जबकि पूर्व में इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के विकास के रूप में देखते हैं।

जी. एलोएसियस अपने शोध ग्रंथ में राष्ट्रवाद का विश्लेषण एक विचारधारा के रूप में करते हैं –

> ऐसा मान लिया जाता है कि राष्ट्र के कुछ आधारभूत या बुनियादी तत्त्व होते हैं जैसे भाषा, प्रजाति, धर्म, भौगोलिक सीमाएँ या इतिहास जो अकेले या सभी तत्त्वों के संयोग से एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से अलग करते हैं। इस

संदर्भ में वे एच. कोहन, ए. स्मिथ, के.आर.. मिनोग (1969) और अन्य विद्वानों के अध्ययन का हवाला देते हुए 'राष्ट्र' की व्याख्याओं का विश्लेषण करते हैं। अनेक विद्वान पाश्चात्य राष्ट्रवाद को राजनीतिक और पूर्वी राष्ट्रवाद को सांस्कृतिक मानते हुए इनका विभाजन करते हैं। विकल्प में 19वीं सदी में राष्ट्रवाद के विकास को राजनीतिक और 20वीं सदी में सांस्कृतिक रूप में विभाजित किया गया है। भौगोलिक विभाजन के स्थान पर काल के आधार पर अध्ययन करने के विकल्प को प्रस्तुत किया गया है।

राष्ट्रवाद का जो नैतिक मूल्यांकन किया जाता है वह विचारणीय है।

पाश्चात्य राष्ट्रीयताओं को मौलिक, प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष माना गया जबकि पूर्वी राष्ट्रीयताओं को अनुकरणीय (नकल की गई), संकीर्ण और पुराने ढाँचे की बताया गया। ऐसा इसलिए क्योंकि हमें शुरू से यही बताया जाता रहा है कि राष्ट्र की अवधारणा का जन्म सबसे पहले पश्चिम में हुआ और बाद में अन्य देशों में यह अवधारणा विकसित हुई।[1] यहीं पर सांस्कृतिक अस्मिता और स्वायत्तता की बहस शुरू होती है। सवाल यह है कि क्या यह जरूरी है कि राष्ट्र की किसी एक सुनिश्चित अवधारणा को लेकर चला जाए और उसी आधार पर भारत या पूर्वी संस्कृतियों को पश्चिम द्वारा निर्धारित राष्ट्रीयता की पहचान में उतारा जाए। यह काम केवल संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधाराओं द्वारा ही नहीं किया गया बल्कि गई प्रगतिशील विचारधाओं द्वारा भी किया गया। पूर्वी देशों को, तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों की समस्याओं को यूरोपीय राष्ट्र के ढाँचे के आधार पर सुलझाने की कोशिश की गई।

---

1. जी. ऐलोएसियस : नेशनेलिज़्म विदाउट नेशन इन इंडिया, पृ. 127.

एम.एस. गोलबलकर अपनी किताब – 'वी एण्ड आवर नेशनहुड डिफाइण्ड' में लिखते हैं (1939) – "हिन्दुस्तान में राष्ट्र की अवधारणा के आधुनिक रूप के अनुसार वे पाँचों तत्त्व मौजूद हैं – हिन्दू जाति और उसका हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति व हिन्दू भाषा (संस्कृत) व हिन्दू प्रदेश (एक भौगोलिक खण्ड)।" हिन्दुस्तान से यहाँ अभिप्राय हिन्दुओं के प्रदेश से था और हिन्दू भाषा, जिसे यहाँ की मूल भाषा का दर्जा दिया गया, वह संस्कृत मानी गई। अन्य भारतीय भाषाओं की उद्‌गम स्रोत भी 'संस्कृत' को ही माना गया। इसलिए अन्य भाषाओं के स्वतंत्र अस्तित्व को नकार कर उन्हें संस्कृत की पुत्री या बहनें माना गया। इसके आगे वे लिखते हैं – 'हिन्दुस्तान में जो हिन्दू जाति, धर्म, संस्कृति या भाषा से संबंध नहीं रखते वे स्वाभाविक रूप से (हिन्दू) राष्ट्रीय जीवन से अलग हो जाते हैं।'[2]

पश्चिम के मॉडल को लेकर चलने वाली यह संकीर्ण राष्ट्र की अवधारणा हिन्दुस्तान को 'हिन्दू राष्ट्र' के रूप में प्रस्तुत करती है। धर्म, भाषा, प्रजाति या संस्कृति आदि किसी एक निर्धारक तत्व के केन्द्र पर राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं किया जा सकता। जब वर्चस्वशाली या प्रभुत्वशाली संस्कृतियों ने जिन राष्ट्रीयताओं का निर्माण किया तब अपनी भाषा और संस्कृति, जातीय गौरव को अन्य संस्कृतियों की भाषा आदि पर आरोपित करने की कोशिश की है। उनके मूल अस्तित्व को हीन बताया या उसे नष्ट करने के प्रयास किए हैं। राजनीतिक सत्ता या आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुए धार्मिक सांस्कृतिक संघर्ष हमारे सामने इस चुनौती को रखते हैं कि संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता के सवालों की पुनर्व्याख्या की जाए, उन्हें नए दृष्टिकोण से देखा जाए। हाशिए पर पड़ी कई छोटी–छोटी आवाज़ें अनेक लघु आंदोलनों के कद को बड़ा करके आँका जाए ओर इतिहास को नीचे से देखने की कोशिश की जाए।

---

2. एम.एस. गोलवलकर : वी एण्ड आवर नेशनहुड डिफाइण्ड अध्याय–4, पृ. 43–44.

बैनीडिक्ट एन्डरसन ने अपनी बहुचर्चित किताब (Imagined communities : Reflections on the Origin and spread of Nationalism, 1983) में राष्ट्र की परिभाषा दी है – 'राष्ट्र' एक काल्पनिक अवधारणा है क्योंकि उस राष्ट्र में रहने वाले सभी लोग एक दूसरे से परिचित नहीं होते, न मिल पाते हैं, न देख पाते हैं। परंतु फिर भी उनकी सोच में, उनके मानस में एक दूसरे से जुड़े होने की भावना (communism) होती है। इसलिए राष्ट्र एक इमेज या काल्पनिक बिम्ब है। 'राष्ट्र' एक काल्पनिक राजनीतिक समुदाय है जिसकी सीमाओं और सम्प्रभुता को अनुमान से मान लिया जाता है।"[3] काल्पनिक अवधारणा मानने के साथ ही वे इसे यूरोप के केन्द्रित अवधारणा भी मानते हैं। एन्डरसन की इस परिभाषा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रीयता भावनात्मक आवेग है और राज्य या प्रशासनिक इकाई में बंधे होने के कारण विधि कानून नियम आदि का दबाव या सामाजिक–सांस्कृतिक आवश्यकता हो सकती है, जिसे कल्पना के आधार पर निर्मित कर लिया गया।

औपनिवेशिक शक्तियों व साम्राज्यवादी ताकतों से निपटने के लिए भारत में राष्ट्रीयता की भावना को एक आवेग और सामाजिक–सांस्कृतिक आवश्यकता माना गया। यहाँ यह एक राजनीतिक लड़ाई का सामना करने के लिए आवश्यक भी था। एन्डरसन की तरह 'राष्ट्र' की अवधारणा पर विचार करते हुए राजनीतिक विज्ञान और एशियन स्टडीज़ के प्रो. पॉल आर. ब्रास उत्तर भारत की स्थितियों का अध्ययन करते हैं। उत्तर भारत में धर्म और भाषा को आधार बनाकर की जाने वाली राजनीति ने राष्ट्रीय चरित्र को किस प्रकार प्रभावित किया, इस संदर्भ में वे अपने निष्कर्ष देते हैं –

'पिछली शताब्दी से यह देखा जा सकता है कि दक्षिण एशियाई देशों के

---

3. बैनिडिक्ट एंडरसन : इमेजिंड कम्युनिटीज़, दूसरे प्रकाशन की भूमिका, पृ. xiii.

समाजों ने अपनी अस्मिता का निर्माण भाषा व धर्म के आधार पर किया है। भाषा व धर्म को लेकर इन समुदायों व समाजों में परस्पर संघर्ष भी रहा। दूसरी ओर जाति, कुटुंब, परिवार, वंश आदि के आधार पर निर्मित सीमित व संकीर्ण पहचान से ऊपर उठकर इन समुदायों ने अपनी अस्मिता को व्यापक स्तर पर व्याख्यायित करने का प्रयास भी किया।'[4]

'व्यापक स्तर पर बनने वाली अस्मिता' को पॉल ब्रास पुनः विश्लेषित करते हैं कि अस्मिता निर्माण के ये नवीन आधार अपनी लक्ष्य की पूर्ति क्यों नहीं कर पाए और इनकी पृष्ठभूमि में कौन से राजनीतिक तत्त्व या परिस्थितियाँ सक्रिय थीं। 'अस्मिता के इस व्यापक स्वरूप के निर्मित होने से स्वायत्तता का सवाल भी खड़ा हुआ। कई समुदायों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता भी स्थापित की। स्वतंत्रता पूर्व इस्लामी एकता ने व्यापक जन आंदोलनों का रूप लिया जिसके परिणामस्वरूप 'पाकिस्तान' एक अलग देश निर्मित हुआ। यह देश धर्म के आधार पर निर्मित हुआ पर बाद में पुनः खण्डित हुआ जिसका कारण था एक अलग सांस्कृतिक समुदाय द्वारा किया गया आंदोलन जो बंगलाभाषी था।'[5]

इस प्रकार पॉल ब्रास जातीयता के नए आधार भाषा और धर्म के प्रत्यक्ष उदाहरण देते हैं। वे ये स्थापना करते हैं कि किस प्रकार कुछ संस्कृतियों व समुदायों ने अपनी स्वायत्त राष्ट्रीय अस्मिता निर्मित करने के लिए प्रयास किए हैं। जिन राष्ट्रीय प्रतीकों व तत्त्वों को अनिवार्य माना गया उन्हें खण्डित करके नए राष्ट्रों का निर्माण भी हुआ। प्रो. पॉल ब्रास यह सवाल उठाते हैं कि वे कौन सी प्रक्रियाएँ या तत्त्व हैं जिनके कारण भाषा, धर्म और संस्कृति विभिन्न समुदायों की पहचान का आधार बनते हैं व व्यापक स्तर

---

4. पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 3.
5. वही, पृ. 3.

पर लोगों की भावनाओं को प्रभावित करते हैं। कहीं ये तत्त्व राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने का काम करते हैं तो कहीं विखण्डित करने वाली शक्ति के रूप में दिखाई देते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य के बाद स्वतंत्र राष्ट्र निर्माण के लिए जिन तत्त्वों व प्रतीकों का सहारा लिया गया, उन्हीं तत्त्वों व प्रतीकों को आधार बना कर कुछ समुदायों ने अपनी स्वायत्तता की माँग की। राष्ट्र की आंतरिक संरचना के भीतर से कई संस्कृतियों की स्वायत्तता का सवाल खड़ा हो गया। पॉल ब्रास राष्ट्रवाद को मूलतः एक राजनीतिक अवधारणा के रूप में परिभाषित करते हैं।

राष्ट्र की एक सुनिश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र के निर्मित होने के पीछे भिन्न भिन्न प्रक्रियाएँ रही हैं। संस्कृति, धर्म या भाषा के आधार पर जो समुदाय या नृजातीय समूह राष्ट्र के रूप में निर्मित हुए हैं उसका आधार अलग–अलग सामाजिक परिस्थितियाँ रही हैं, जिनका समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाना चाहिए। अभिप्राय यह है कि अनेक समुदायों में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया स्वतः स्वभाविक भी रही है और वहाँ राष्ट्रीयता की भावना या राष्ट्र के रूप में उनकी पहचान किसी विदेशी या बाहरी आक्रमण या साम्राज्यवादी शक्ति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई हो, ऐसा आवश्यक नहीं है।

भारत के संदर्भ में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया औपनिवेशीकरण, पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप ही प्रारंभ हुई। राजनीतिक वेत्ता राष्ट्रों के निर्माण की प्रक्रिया का आरंभ तभी से मानते हैं जब विश्व बाज़ार, औद्योगीकरण और साम्राज्यवाद की शुरुआत हुई। साम्राज्यवादी देशों की अधीनता से मुक्त होने के लिए उपनिवेशों ने अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान और राजनीतिक स्वायत्तता की माँग की। यहीं से उनके एक राष्ट्रीय इकाई में तबदील होने की प्रक्रिया की शुरुआत मानी जा सकती है। यह एक सांस्कृतिक सवाल है इस बात की पुष्टि कृष्ण कुमार अपने एक साक्षात्कार

में भी करते हैं – 'यह सवाल एक निरंतर नया रूप लेता हुआ सवाल है क्योंकि राष्ट्र – राज्यों का आधुनिक दुनिया में इतिहास कोई बहुत लम्बा इतिहास नहीं है। सबसे लम्बा शायद यूरोप के देशों के लिए है तो वह भी इतिहास मुश्किल से ढाई सौ–तीन सौ साल लम्बा ही ठहरता है और जहाँ तक इन पुराने समाजों (एशिया, अफ्रीका के देशों का संदर्भ) का सवाल है जोकि भौगोलिक कारणों से निश्चित सीमा में रहे हैं।' ... राष्ट्र को वे निरंतर बनते रहने की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। राष्ट्र अगर एक समाज विशेष का सांस्कृतिक ढाँचा है तो 'एक निर्माणाधीन विचारधारा है।'[6]

भारत के संदर्भ में राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया का विश्लेषण इसलिए भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि औद्योगीकरण और विश्व बाज़ार के केंद्र में भारत की स्थिति सबसे महत्त्वपूर्ण थी। डॉ. रामविलास शर्मा इस संदर्भ में ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि योरोप और भारत के पुराने व्यापार मार्गों पर अरबों और तुर्कों का आधिपत्य था। इस आधिपत्य को खत्म न कर पाने के कारण योरोप के जहाज़ी अफ्रीका का चक्कर लगाकर भारत पहुँचने का समुद्री मार्ग खोज रहे थे। .. अमरीकी महाद्वीपों का पता लगाने से पुरानी दुनिया के लोगों को एक नयी दुनिया का ज्ञान हुआ। जो विश्व बाज़ार अब कायम हुआ; उसमें पुरानी दुनिया के अलावा, यह नयी दुनिया शामिल थी। इस नयी दुनिया का पता लगाने में अप्रत्यक्ष प्रेरणा भारत की थी। ... किंतु प्रत्यक्ष रूप से भी विश्वबाज़ार के निर्माण में भारत की भूमिका महत्वपूर्ण थी। ... अपने माल की बिक्री के लिए भारत के बाज़ार को इस्तेमाल करने में अंग्रेज़ों ने केवल आर्थिक साधनों से काम नहीं लिया। आर्थिक साधन गौण थे, मुख्य साधन राजनीतिक और सैनिक थे। अंग्रेज़ यहाँ क्रमशः अपना राज्य विस्तार कर रहे थे। जब वे राजनीतिक रूप से मजबूत हो गए, तब

---

6. बहुवचन, वर्ष 3, अंक 11, अप्रैल–जून 2002, पृ. 171.

उन्होंने अपने देश में भारतीय माल की बिक्री पर रोक लगाई और भारत में अपने माल की बिक्री को छूट दी।[7] इस प्रकार व्यापार और बाज़ार की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था को नया रूप मिला और अनेक समाज़ों ने अपनी स्वायत्तता, विकास या साम्राज्य विस्तार के लिए राष्ट्र–राज्य का निर्माण किया। 'भाषा' इसका सांस्कृतिक पक्ष थी, जिस पर नियंत्रण करना जरूरी समझा गया। बाज़ार की प्रक्रिया का भाषा पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा।

भारत का स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में संघर्ष सिर्फ साम्राज्यवादी सत्ता से मुक्ति केवल राजनीतिक अर्थों में नहीं थी। इतिहासकारों ने इसे इस रूप में देखा कि अंग्रेज़ों को भारत को मुक्त कराने की बात सबसे पहले यहाँ के मूल पूँजीपतियों, व्यापारियों ने, यहाँ के राजनेताओं और बौद्धिक वर्ग के साथ मिलकर की। विश्व बाज़ार भारत में कायम हो रहा था लेकिन भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रमुख नायकों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की आर्थिक नीतियों की आलोचना की। इसका सशक्त उदाहरण दादा भाई नौरोजी की किताब – 'पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' जो 1876 से 1901 तक लिखे, उनके लेखों का संग्रह है। दादा भाई नौरोजी ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन और बढ़ती गरीबी को अन्य समस्याओं जैसे – अकाल, भुखमरी आदि के लिए 'ड्रेन ऑफ वेल्थ' (drain of wealth) को जिम्मेदार बताया।[8] 1867 में जब पहली बार यह सिद्धांत रखा गया तो उसका यही आशय था कि अंग्रेज़ी साम्राज्य का उद्देश्य यहाँ की पूँजी का विदेश स्थानांनतरण है। ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीतियों की तीखी आलोचना के बावजूद वे कुछ मामलों में भारत को राजनीतिक तौर पर और प्रशासन के स्तर पर जोड़ रहे है और कई आधुनिक संस्थाओं को जन्म दे रहे हैं जैसे – 'फ्री' प्रेस, आधुनिक शिक्षा का प्रसार,

---

7. डॉ. रामविलास शर्मा : भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, भाग–1, पृ.
8. दादा भाई नौरोजी : पावर्टी एण्ड अन–ब्रिटिश रूल इन इण्डिया (भूमिका), पृ. IV.

धार्मिक रूढ़ियों और जड़ता से मुक्त करने में भारतीयों को सक्षम बनाने का काम ब्रिटिश रूल के माध्यम से हुआ है।[9] इसीलिए दादा भाई नौरोजी ब्रिटिश रूल तो चाहते थे, जिससे उनका अभिप्राय था – उचित न्यायसंगत और लोकतांत्रिक साम्राज्य जो कि भारतीयों के हित में होगा 'अब ब्रिटिश रूल' से उनका अभिप्राय ठीक इसके विपरीत था। परंतु मूलतः उनके राजनीतिक–आर्थिक विचार और राजनीतिक गतिविधियाँ ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ों से काटते हैं।[10]

दादा भाई नौरोजी की ही तरह रमेशचन्द्र दत्त, जी.वी. जोशी, पी. सुब्रह्मण्यम अय्यर, गोपाल कृष्ण गोखले, पृथ्वीचंद्र राय समेत अनेक राजनीतिक कार्यकत्ताओं और पत्रकारों का उल्लेख प्रो. बिपिन चंद्र अपने इतिहास ग्रंथ – 'भारत का स्वाधीनता संघर्ष' में करते हैं।[11] इसमें तत्कालीन अर्थव्यवस्था के हर पहलू का गहराई से विश्लेषण किया गया है और औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के दुष्प्रभावों की विस्तार से छानबीन की गई है। उन्होंने अपने इस विश्लेषण के बाद यह बुनियादी सवाल उठाया कि ब्रिटिश शासन की प्रकृति और उद्देश्य क्या है ? इन विश्लेषणों का नतीजा यह हुआ कि भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशीकरण की समूची प्रक्रिया सामने आ गई। यह निष्कर्ष सामने आया कि केवल आर्थिक विकास में ही नहीं, यहाँ की भाषा, संस्कृति, शिक्षा, इतिहास की रूपरेखा आदि के समक्ष सबसे बड़ी बाधा उपनिवेशवाद ही है।

---

9. वही, पृ. V.
10. वही, पृ. VII.
11. बिपिन चंद्र : भारत का स्वाधीनता संघर्ष, पृ. 56 से 63

(i) राष्ट्रवाद और संस्कृति

भारत में राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया की ऐतिहासिक भूमिका के बाद यह आसानी से समझा जा सकता है कि सांस्कृतिक स्वायत्तता या पराधीनता का राष्ट्रवाद से अभिन्न संबंध है। संस्कृति और भाषा की मूर्त–अमूर्त अवधारणाओं के मूल में ही निरतंरता निहित है। राष्ट्रवाद के संदर्भ में इनकी व्याख्याएँ अलग–अलग से की जाती हैं। औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के लिए लोगों को जोड़ना, संगठित करना अति आवश्यक था। राष्ट्रीयता की भावना का उदय बिना सांस्कृतिक जागृति के संभव न था। भाषा के माध्यम, इतिहास ग्रंथों, उपलब्ध साहित्य आदि के द्वारा किसी भी समाज की सांस्कृतिक व्याख्या की जा सकती है। इस दृष्टि से भारत में सांस्कृतिक बहुलता पाई गई।

ब्रिटिश साम्राज्य के आधिपतय से भारत एक प्रशासनिक इकाई या शासन व्यवस्था में बंध गया। इस औपनिवेशिक तंत्र से मुक्ति के लिए भारतीय इतिहासकारों, विचारकों, साहित्यकारों या राजनीतिज्ञों के लिए भारत की सांस्कृतिक बहुलता को एक व्यापक सांस्कृतिक परिभाषा देना आवश्यक था। राष्ट्र की नई सांस्कृतिक परिभाषा देने से राष्ट्रीय आंदोलन का प्रचार–प्रसार करना भी आसान हो गया। राष्ट्रीय आंदोलन को भावनात्मक रूप देने के लिए सांस्कृतिक मूल्यों को आधार बनाया गया। समाजशास्त्र के अंतर्गत राष्ट्रवाद और संस्कृति के बीच परस्पर संबंधों पर स्वतंत्र रूप से चिंतन किया गया है।

संस्कृति का व्यापक परिचय समाज विशेष में बोली जाने वाली भाषा से ही मिल जाता हैं समाज विशेष की सांस्कृतिक संरचना उसके राष्ट्र के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। "संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में रहती है, जिसे कि समाज कहा जाता है। ऐसे जिस समाज में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता पायी जाती है या वह समाज ऐसी एकता का

इच्छुक होता है तो उसे राष्ट्र माना जाता है। ... एक ही राज्य में, एक ही राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने का प्रयत्न करने को एक राष्ट्र की परिभाषा मानना होगा।"[12] आबिदहुसैन द्वारा किए गए विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि 'राष्ट्र' के रूप में अपना विकास करने के लिए समाज अपने सांस्कृतिक–राजनीतिक चरित्र का निर्माण भी करता है। 'वे लोगों की राष्ट्र बनाने की आम भावना को आवश्यक मानते हैं, जिससे कि कोई भी राष्ट्र निर्मित होता है। भारत में कई संस्कृतियाँ मिलकर एक राष्ट्र बनाती हैं या राज्य का निर्माण करती हैं। इसलिए भारत के संदर्भ में यह बात – 'विभिन्न सांस्कृतिक समाजों द्वारा राष्ट्र बनाने की आम भावना' – और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। जहाँ इतनी सांस्कृतिक विविधता के बावजूद राष्ट्रीयता की भावना के बलबूते स्वाधीनता प्राप्त की गई। विभिन्न संस्कृतियाँ जब 'राष्ट्र' के रूप में एक दूसरे से बंधती हैं तब वे एक भिन्न व स्वायत्त सांस्कृतिक पहचान का भी प्रयास करते हैं। इस पर देश के संविधान, कानून–व्यवस्था या राजनीति, साहित्य आदि का प्रभाव भी हो सकता है।

जी. एलोएसियस राष्ट्र की अवधारणा के विकास में संस्कृति और सत्ता के परस्पर संबंधों का विश्लेषण करते हैं। वे अरनेस्ट जेलनर के मत का हवाला देते हुए संस्कृति और सत्ता में परस्पर सामंजस्य की बात करते हैं। यह सामंजस्य दोहरे स्तर पर होता है – एक, संस्कृति के भीतर शक्ति या सत्ता का एकरूप होना अर्थात् राष्ट्र निर्मित होने की प्रक्रिया तक एक सांस्कृतिक समूह के रूप में शक्ति का संगठित होना। दूसरे, अन्य सांस्कृतिक समुदायों द्वारा स्वायत्त अस्मिता व 'स्व–निर्धारण' करने की शक्ति का विलय।

इस पूरी प्रक्रिया के पीछे मुख्य कारण वे 'आधुनिक राजनीति' मानते हैं जिसमें 'राष्ट्र' की संरचना के भीतर विभिन्न समुदायों में परस्पर सत्ता के लिए संघर्ष होता है –

---

12 एस. आबिद हुसैन – भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ. 4.

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक कारणों से। राष्ट्रवाद एक ऐसी विचारधारा के रूप में विकसित होता है जिसे अन्य विचारधाराएँ अपने हिसाब से व्याख्यायित करती हैं।

राष्ट्र के उद्‌भव को संस्कृति पर आधारित मानते हुए लिखते हैं कि – 'राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता रखनेवाला सामाजिक समूह है। जो लोगों की भावनात्मक एकता और अभिव्यक्ति में जागृत और दृढ़ होता है।'[13] इस प्रकार संस्कृति एक ऐसा निर्धारक तत्त्व है जो किसी भी राष्ट्र के स्वरूप को निर्धारित करने में आधारभूत ढाँचा प्रदान करता है। सांस्कृतिक एकरूपता या साझी संस्कृति विभिन्न समुदाय के लोगों को, व्यक्तिगत रूप से परिचित न होते हुए भी जोड़ने में सहायक होती है। सांस्कृतिक समानता की भावना ही एंडरसन के शब्दों में कहें तो – 'वह काल्पनिक चेतना' है जो किसी भी 'राष्ट्र के उदय' या 'राष्ट्रीय प्रभुसत्ता' का विकास करती है।[14]

इस संदर्भ में एंडरसन इसे काल्पनिक अवधारणा मानते हैं क्योंकि उनका मानना है यह केवल चेतना के धरातल पर ही संभव है कि दूर–दूर रहने वाले लोग भी भावना के स्तर पर एक दूसरे से जुड़े रहें। ऐसा 'प्रिंट मीडिया' के कारण ही संभव हो पाया है। इसमें वे भाषा की अहम् भूमिका मानते हैं। आधुनिक राष्ट्रों को खासकर, एशिया के कई उपनिवेशों को वे वर्नाकुलर पर आधारित राष्ट्र बताते हैं।

सुदीप्तो कविराज भारत में राष्ट्र के निर्माण और संस्कृति के स्वरूप का विश्लेषण अपने लेख 'द इमेजनरी इंस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया' में करते हैं। वे लिखते हैं कि राष्ट्रवाद की ऐतिहासिक सच्चाई को जानने के लिए यह जरूरी है कि हम उस ऐतिहासिकता से बाहर निकलें जो अब तक राष्ट्रवाद के रूप में निर्मित हुई है। ऐसा नहीं है कि ये

---

13 जी. ऐलोएसियस : नेशनेलिज़्म विदाउट नेशन इन इंडिया, पृ. 128.

14 बेनिडिक्ट एंडरसन : इमेजिण्ड कम्युनिटीज़, पृ. 135.

ऐतिहासिक ब्यौरे किसी तरह की एकरूपता रखते हों, विभिन्न परिस्थितियों के दबावों और राजनीतिक माँगों के अनुसार राष्ट्रवाद की धुरी में परिवर्तन भी हुए हैं। लेकिन फिर भी अनेक आंतरिक भेदों के बावजूद कुल मिलाकर इसे 'राष्ट्रवाद का राष्ट्रीय इतिहास' ही कहा गया। ... भारतीय राष्ट्रवाद का इतिहास लिखने का अभिप्राय लम्बे समय तक उस समय की राजनीतिक घटनाओं के विवरण इकट्ठे करने तक सीमित था, जिनके आधार पर राष्ट्रवाद जैसे जटिल तथ्य का निर्माण किया गया।'[15]

भारत में राष्ट्रवाद के उद्‌भव और विकास की कहानी को अब तक जिस रूप में प्रस्तुत किया गया उसमें इतिहास लेखन के ढंग की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस पर भी वे टिप्पणी करते हुए लिखते है कि अब तक के ऐतिहासिक ब्यौरे मानो राष्ट्रवाद के 'नेरेटिव' को एक खास तरीके से अभिव्यक्त करने के लिए प्रतिबद्ध थे जो व्यापक उथल–पुथल और विभिन्न विचारधारात्मक मतभेदों के बावजूद सभी घटनाओं को एक सूत्र में पिरोते हैं। इस तरह वे राष्ट्रवाद को उसकी चरम परिणति और विकास के लक्ष्य तक पहुँचता हुआ दिखाते हैं।[16] सुदीप्तो कविराज हमारा ध्यान जिस बात की ओर ले जाना चाहते हैं वह यह है कि 'राष्ट्रवाद की अवधारणा' विभिन्न वैचारिक मतों के बावजूद अपने मूल अर्थ में 'साम्यता' के भाव से जुड़ी है। इसे 'ऐतिहासिक साम्यता' के रूप में देखा जाना चाहिए, जहाँ मतों की भिन्नता के बावजूद लक्ष्य एक ही था। जिसे अर्जित करना सभी के लिए ज़रूरी हो गया और इस तरह यह एक ऐतिहासिक सच्चाई बन गई। इसी के परिणामस्वरूप कई सामाजिक समूहों और विभिन्न समुदायों के लोगों ने अपनी एक सामूहिक राजनीतिक पहचान का निर्माण किया। सुदीप्तो कविराज भारत के इस इतिहास

---

15 चैटर्जी और पाण्डेय (सम्पादित) – सबाल्टर्न स्टडीज़ VII.
लेख : सुदीप्तो कविराज – द इमेज़िनेरी इंस्टीच्यूशन ऑफ इण्डिया. पृ. 8.

16 वही, पृ. 9.

और उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप उपजी ऐतिहासिक चेतना को इटली के राष्ट्रवाद के समकक्ष रखते हैं जिसका विश्लेषण ग्राम्शी ने किया है। जब ग्राम्शी कहते हैं – कि यह एक काल्पनिक चेतना ही नहीं कृत्रिम चेतना भी हैं एक खास तरह की राजनीति और परिस्थितियों के बीच से उपजी चेतना है। जो केवल छद्म है, जिसके परिणामस्वरूप लोगों को भड़काने और उकसाने की साजिश की जाती है। लेकिन जब ग्राम्शी किसी भी तरह की राष्ट्रीय संस्कृति की निरंतरता या अतीत में उसकी मौजूदगी को नकारते हैं तो सुदीप्तो कविराज इस पर आपत्ति करते हुए हैं लिखते हैं कि ग्राम्शी का यह मत कहीं न कहीं उनके अपने विचार का ही खण्डन करता है। 'अगर राष्ट्रीय चेतना एक काल्पनिक चेतना है तो भी इसका निर्माण तभी हो सकता है जब वह लम्बे समय तक किसी न किसी रूप में व्यवहार में आती रही, अतीत में उसे छाना–परखा गया होगा और उसकी मौजूदगी की कई परतें और तहें बनती रहीं होगीं – इस आधारभूमि पर ही इस चेतना का उद्भव और विकास किया जा सकता है।[17]

इस तरह राष्ट्रीय चेतना एक जगह पर एक साथ रह रहे लोगों में स्वाभाविक रूप से भी मौजूद हो सकती है और तत्कालीन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप या राजनीति के तहत विकसित भी की जा सकती है। 'राष्ट्र' की स्वायत्त पहचान बनाने में और लोगों को आपस में जोड़ने में संस्कृति मुख्य भूमिका निभाती है। लेकिन वहीं इसका एक दूसरा पक्ष भी हैं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद विभिन्न संस्कृतियों में परस्पर अलगाव और मतभेद भी उत्पन्न करता है। राष्ट्रीय संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों को एक छतरी के नीचे लाने की कोशिश करती है।

---

17 चैटर्जी और पाण्डेय (सम्पादित) – सबाल्टर्न स्टडीज़ VII.
लेख : सुदीप्तो कविराज – द इमेज़िनेरी इंस्टीच्यूशन ऑफ इण्डिया. पृ. 10–13

प्रत्येक समाज की सांस्कृतिक संरचना अलग तरह की होती है इसलिए वह अपनी संरचना के अनुसार अपने राष्ट्रीय अस्तित्व का निर्माण कर सकती है। संस्कृति में निरंतरता और प्रवाह होता है, तभी वह अपनी लम्बी परम्परा का निर्माण भी कर पाती है। समय के अनुसार उसके स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है। इसलिए संस्कृति को प्रवाहशील और गतिशील माना जाता है। अतीत की संस्कृति के आधार पर वर्तमान राष्ट्र का विकास करना गलत होगा। वर्तमान संदर्भों में संस्कृति की नवीन व्याख्या करना भी उतना ही जरूरी है जितना कि उसका इतिहास। इतिहास या अतीत नींव रखता है जिस पर समाज अपना विकास करता है।

भारत में विभिन्न संस्कृतियाँ मिलकर समरूप राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण का प्रयास करती हैं। यह सांस्कृतिक विभिन्नता भारत के राष्ट्रीय चरित्र को अनोखा रूप प्रदान करती हैं। लेकिन इतिहासकारों ने उन स्थितियों का विश्लेषण करने का भी प्रयास किया है जो एक ओर राष्ट्रीयता के सूत्र में विभिन्न संस्कृंतियों को बाँधने में सक्षम थी, वहीं उन्हीं के द्वारा सांस्कृतिक अलगाव और विभेदीकरण करने वाले तत्त्वों का भी विकास हुआ। सुदीप्तो कविराज इसी अर्थ में 'अतीत को एक सिद्धांत' के रूप में व्याख्यायित करते हैं जो 'जोड़ने' और 'तोड़ने' दोनो कामों के प्रयोग में लाया गया। जो सबसे बड़ी भूल इतिहास में हुई – या साम्प्रदायिक उन्माद पैदा करने वाली अवसरवादी राजनीति द्वारा ऐसा किया गया – धर्म के आधार पर राष्ट्रीय/समाज की एकता कायम करने का प्रयास किया गया। यही बात नई पीढ़ी के लोगों के दृष्टिकोण को प्रभावित करने के लिए की जाती है। आज की पीढ़ी भारतीय है, न कि पहले के हिंदुओं का मुसलमानों की अनुगामिनी। यह भी सच नहीं है, जैसाकि कुछ इतिहासकार मानते हैं कि पहले के हिंदुओं और मुसलमानों में कोई दूरी या मनमुटाव नहीं था।

कई बार समाज विशेष में राष्ट्रनिर्माण की आवश्यकता के लिए अतीत या इतिहास के संदर्भों की सहायता ली जाती है। इन संदर्भों की सहायता से एक साझी संस्कृति, इतिहास और एकता की छवि बनाने का काम साहित्य करता हैं जैसा कि हिन्दी भाषी क्षेत्र में यह प्रक्रिया बड़ी तेज़ी से चली। प्रिंटिंग प्रेस के आने के बाद भारतेंदु युग में गद्य में और द्विवेदी युग में गद्य और पद्य दोनों में राष्ट्रीय चेतना का स्तर पूरी तरह से व्याप्त रहा। परंतु यह मान लेना गलत होगा कि हिन्दी भावी समुदाय पहले से ही एक राष्ट्रीय इकाई में सदियों से बंधा हुआ था और उसे ऐसा ही देखा जाना चाहिए।

समाज में मौजूद अनेक सांस्कृतिक भिन्नताओं को दबा कर राष्ट्रीय चेतना को जिन परिस्थितियों के कारण उभारा जाता है, उन्हीं परिस्थितियों के बदल जाने से वे भिन्नताएँ फिर से उभर कर आक्रामक रूप भी धारण कर सकती हैं। इसलिए सुदीप्तो कविराज इतिहास के विखण्डन की बात करते हैं। वे ग्राम्शी के मत का हवाला देते हुए लिखते हैं – 'यह एक पूर्वकल्पित धारणा है कि इटली आरंभ से ही एक राष्ट्र था। यह धारणा पूरे इतिहास को जटिल बना देती है और इसके लिए इतिहास विरोधी बौद्धिक कसरत की जरूरत पड़ती है ... उस समय इतिहास एक राजनीतिक प्रचार का हिस्सा था, जिसका लक्ष्य था राष्ट्रीय एकता निर्मित करना। वह इस तरह से – बाह्य स्वरूप राष्ट्र का हो जो परमपरा के विरुद्ध दिखे और जिसका आधार साहित्य हो। यह पहले से मौजूद स्थितियों पर आधारित आवश्यक कदम न होकर केवल एक इच्छा थी।'[18] ग्राम्शी का यह मत भारत के संदर्भ में भी महत्वपूर्ण है क्योकि भारत के लिए यह एक आवश्यक कदम बन गया था पर स्वाधीनता के बाद की स्थितियों में 'राष्ट्र' को परिभाषित करने के प्रयास उसी तरह से हुए जिस तरह से इटली के संदर्भ में हुआ।

---

18 चैटर्जी और पाण्डेय (सम्पादित) – सबाल्टर्न स्टडीज़ VII.
लेख : सुदीप्तो कविराज – द इमेज़िनेरी इंस्टीच्यूशन ऑफ इण्डिया. पृ. 8, 9

इतिहास परम्परा, साहित्य और संस्कृति के माध्यम से 'राष्ट्रीय चेतना' का निर्माण एक खास राजनीतिक एजेण्डे के तहत ही किया गया था। औपनिवेशिक दौर में यह देश–प्रेम, एकता, भाईचारा आदि भावनाओं का प्रतीक थी। लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में संकीर्ण सांस्कृतिक परिभाषाओं और अस्मिता के मूल का प्रश्न उठाकर असंतोष, आक्रामकता और अपसंस्कृति को फैलाया जा रहा है। अतीत और इतिहास के दुरुपयोग के खतरे की बात करते हुए कृष्ण कुमार लिखते हैं – 'अतीत में दिलचस्पी लेना उसकी जाँच–पड़ताल करना एक बात है, अतीत को महिमा मण्डित करना, उसमें बैठकर वर्तमान को देखना एक बिलकुल फ़र्क बात।'[19]

इसलिए संस्कृति जहाँ इतिहास से जुड़ी है, वहीं उसमें अंतर्निहित राजनीति को पहचानना जरूरी हो जाता है। 'सत्ता की संस्कृति' और 'संस्कृति' का प्रचार व पहचान निर्मित करना एक ही राजनीति का हिस्सा बन गए हैं। आज़ादी के बाद की यह स्थिति राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को लगातार क्षति पहुँचाती रही है। भारत में गहराते राजनीतिक संकट पर चिंता व्यक्त करते हुए श्यामाचरण दुबे अपने लेख में लिखते हैं – "आज भी हमारा राजनीतिक मुहावरा छद्म आधुनिकता और छद्म दार्शनिकता के बीच का है। ... विश्व राजनीति की वास्तविकता बदल गयी है, फिर भी हमारी मानसिकता विभाजित है और हम नये यथार्थ से साक्षात्कार कर सकने में असमर्थ हैं – न गरीबी हटी, न धर्म निरपेक्षता आयी। क्षेत्रीय विषमताएँ बढ़ीं। राष्ट्रीयता, सामाजिक एकीकरण विकास आत्मनिर्भरता और समता के लक्ष्य आज अर्थहीन हो गए हैं। अवसरवादी राजनीति ने जातीय भावना, क्षेत्रीयता, भाषावाद, साम्प्रदायिकता और जातिवाद का दोहन किया है। इस राजनीतिक संस्कृति ने देश के सांस्थानिक ढाँचे को खोखला कर दिया है और व्यवस्था की वैधता

---

19 बहुवचन, वर्ष 3, अंक 11, अप्रैल–जून 2002, पृ. 174

और विश्वसनीयता को शंकास्पद बना दिया है।'[20]

आज हम एक तरह के सांस्कृतिक भ्रम में जी रहे हैं। आश्चर्य की बात यह है कि यही सहज बन गया है। एक तरफ राष्ट्र की पहचान बनाने वाले सांस्कृतिक चिह्न जो अंततः राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा हैं और दूसरी तरफ मीडिया और बाज़ार–तंत्र। वे जिस तरह की संस्कृति परोस रहे हैं उससे सांस्कृतिक अलगाववाद बढ़ा ही है। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय एकता के लिए सभी संस्कृतियों के भिन्न स्वरूप को खत्म करें या किसी एक व्यापक सांस्कृतिक ढाँचे में उनका विलय किया जाए। सांस्कृतिक बहुलता को पहचानना चाहिए, उनके भिन्न अस्तित्व को पहचाना और समझा जाए और तब सामाजिक–आर्थिक प्रक्रियाओं व समस्याओं का सामना किया जाए। किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिए यह ज़्यादा ज़रूरी है।

विभिन्न समाजों की संस्कृतियों को उनकी भिन्नता में स्वीकार करना जरूरी है। जितना उन्हें एक करने की कोशिश की गई है उतनी ही कट्टरता मज़बूत हुई है। संस्कृतियाँ लचीली होनी चाहिए तथा उनकी स्वायत्त अस्मिता होते हुए भी वे उदार और ग्रहणशील होनी चाहिए। एक राष्ट्र की भाषिक और धार्मिक संस्कृति में समरूपता होते हुए भी भौगोलिक संस्कृति में भिन्नता हो सकती है। स्थानीय और लोक–संस्कृतियों में हमेशा ही भिन्नता पाई जाती है। संकीर्ण विचारधारा या दृष्टिकोण किसी भी प्रकार की विभिन्नता का सम्मान नहीं कर सकता। भारत जैसे 'राष्ट्र' में हर तरह की विभिन्नता मौजूद है और हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ इसे चुनौती मिलती रही है। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि हम 'विभिन्नता' को एक करने के बजाय उसकी खूबसूरती को पहचानें।

---

20 श्यामाचरण दुबे : परम्परा और परिवर्तन, पृ. 22, 23.

राष्ट्र और संस्कृति के परस्पर संबंधों की आज नई व्याख्याएं सामने आ रही हैं। जिनमें ये प्रश्न उठाए जा रहे हैं कि राष्ट्रीय 'संस्कृति' को कौन परिभाषित कर रहे हैं ? वे कौन–सा वर्ग, समुदाय या समाज का हिस्सा हैं जो केन्द्र में बना रहा, जिसके नियंत्रण में यह 'संस्कृति' रही। संस्कृति की नई व्याख्याओं में तीन आधार मुख्य रूप से सामने आए हैं – स्त्रीवाद, दलित और आदिवासी विमर्श। संस्कृति के विमर्श को इन आधारों पर विश्लेषण करके इतिहास, साहित्य और समाज की नई व्याख्याएँ की जा रही हैं। विश्व अर्थव्यवस्था, बाज़ार और पूँजीवाद के संदर्भ में राष्ट्रीय संस्कृति का अध्ययन व विश्लेषण किया जा रहा है।

(ii) राष्ट्रवाद और धर्म

'धर्म आध्यात्मिक शोषण करने का एक माध्यम है जिसका प्रभाव एक जगह सबसे ज्यादा आम जनता पर पड़ता है, ऐसी आम जनता जो अपने दैनिक काम और जरूरतों के बोझ तले दबे अलगाववाद का शिकार हैं। शोषक वर्ग के विरुद्ध क्रांति करने में असफल होने के कारण शोषित वर्ग आसानी से उन विश्वासों को बढ़ावा देने लगता है जो अंध ाविश्वासों पर टिके हैं जैसे मृत्यु के बाद एक बेहतर जिंदगी और स्वर्ग की परिकल्पना जो कि वर्तमान में उसकी गुलामी से संघर्ष करने की असफलता का ही परिणाम है। इस सारी प्रक्रिया को प्राकृतिक मानकर उसके विरुद्ध संघर्ष करने और लड़ने के स्थान पर ईश्वर, दुष्ट आत्मा, जादू टोने जेसे अंधविश्वासों को बढ़ावा मिलता रहता है। श्रमिक और मेहनत करने वाले वर्ग को हमेशा ही धर्म की यह शिक्षा दी जाती है कि जब तक वह इस धरती पर है विनम्र, आज्ञाकारी, धैर्यवान बना रहे ताकि मृत्यु के बाद वह स्वर्ग के सुखों को भोग सके। जबकि शोषक वर्ग जो दूसरों के श्रम पर पलता है, उसे धर्म यह सिखाता है कि वह जब तक इस धरती पर जीवित है उसे दान पुण्य करते रहना चाहिए, परोपकारी बनना चाहिए। इस तरह धर्म आसानी से उनके शोषण करने की प्रवृत्ति को न्यायसंगत ठहरा देता है और उनके लिए भी स्वर्ग जाने के रास्ते खोल देता है। धर्म आम जनता के लिए अफीम की तरह काम करता है। धर्म एक तरह का आध्यात्मिक नशा है जिसमें पूँजी के गुलाम अपनी मानवीय प्रतिभा को भुला, देते हैं, एक बेहतर जिंदगी और मानवीय होने की जरूरत को छोड़ देते हैं।[21]

'समाजवाद और धर्म' नामक इस लेख में लेनिन ने 'धर्म' को समाज की एक ऐसी व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित किया है जो 'पूँजीवादी' व्यवस्था को बनाए रखने में

---

21 वी.आई. लेनिन : आन रीलिजिन, पृ. 7–8.

सहायक है। धर्म के कारण समाज में वर्गीय शोषण खत्म करना असंभव है। धर्म शोषण करने और शोषित होने वाले वर्गों के बीच की इस पूरी व्यवस्था को बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस भौतिक जगत की सच्चाइयों से दूर ले जा कर उनका सामना करने या उनसे लड़ने के बजाय एक ऐसी रहस्यमयी दुनिया की संरचना करता है जो (अंध) विश्वासों पर टिकी है, न कि मानवीय सच्चाईयों पर। धर्म उन मानवीय सच्चाइयों पर पर्दा डालने का काम करता है। इसलिए लेनिन ने समाजवाद के समक्ष सबसे बड़ी बाधा धर्म को माना।

TH-12553

Jawaharlal Nehru University Library

इस तरह धर्म एक ऐसा तत्त्व या उपकरण है जिसके राजनीतिक पक्ष को छोड़कर उसके सांस्कृतिक पक्ष को ही उभारा जाता है। जिससे धर्म की जड़ें समाज में जमी रहती हैं। विश्व के कई राष्ट्रों ने अपनी धार्मिक पहचान बनाई है। परंतु धर्म कभी भी किसी भी 'राष्ट्र' के अस्तित्व या निर्माण का निर्धारक तत्त्व नहीं बन सकता। 'धर्म' के आधार पर लोगों को सांस्कृतिक रूप से एक करने की धारणा छद्म हैं किसी भी समाज की पहचान 'धर्म' से नहीं की जानी चाहिए। धर्म में मौजूद आचार संहिता की समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक व्याख्या जयादा जरूरी है, जिससे कि समाज विशेष की व्यवस्था को समझा जा सके। आमतौर पर धर्म की लोगों के सामने परम्परागत, पुरातनपंथी, रूढ़िवादी और पारलौकिक सत्ता से जुड़ी तस्वीर ही सामने आती है, लेकिन अदृश्य यथार्थ यह है कि धर्म सामाजिक–आर्थिक भूमिका निभाता है। इसलिए धर्म को राजनीति से भी स्पष्टतया अलग नहीं किया जा सकतां साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी राष्ट्रों ने जब–जब अपनी सत्ता के विरुद्ध जातियों को एकजुट होते देखा या राष्ट्रों को निर्मित होते देखा तो उन्हें खण्डित करने के लिए धर्म, भाषा, संस्कृति आदि तत्त्वों का ही सहारा लिया। बिपिन चंद्र लिखते भी हैं 'हिंदुओं, मुसलमानों, सिक्खों और ईसाइयों के अलग राष्ट्र या अलग राष्ट्रीयता होने की बात तो दूर रही वे तो धार्मिक कृत्यों के अतिरिक्त अपने आप में

समांगीकृत "समुदाय" भी नहीं हैं। अर्थात् उनकी अलग से कोई सामाजिक संरचना या धर्म के आधार पर कोई सुगठित इकाई नहीं है जिसके साझे आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक हित हों अथवा आपस में बाँधने वाली बातें या दृष्टिकोण हों। धार्मिक नियामकों और वर्ग जातीय भाषाई या सांस्कृतिक नियामकों के बीच कोई मेल भी नहीं था। हिंदुओं और मुसलमानों के कोई ऐसे हित नहीं थे जो स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आए हों और साथ साथ खड़े हों। विशेष रूप से हिंदू और मुसलमान किसानों और कामगारों की स्थिति एक–सी थी। ... सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से हिंदू और मुसलमान एक ही राष्ट्रीयता या भाषाई–आँचलिकता या स्थानीय समाज के साझे भागीदार थे।'[22] भारत में धार्मिक भिन्नता होते हुए भी सांस्कृतिक स्तर पर लोगों की चेतना का विभाजन इतना स्पष्ट नहीं था। परंतु औपनिवेशिक शासन के दौरान यह अंतर स्पष्ट होने लगां ब्रिटिश शासनकाल के दौरान जब भारत के इतिहास की गैर मौजूदगी के दावे किए गए और उनके अभाव में इतिहास लिखने की जिम्मेदारी उठाई गई, उसमें भारत की धार्मिक–आध्यात्मिक छवि को गढ़ा गया। 'जेम्स स्टुअर्ट मिल का ग्रंथ संभवतः पहला बुनियादी ग्रंथ था, जो उन्होंने लंदन में लिखा और उसे ब्रिटिश–भारत का इतिहास कहा। उन्होंने भारतीय इतिहास को तथाकथित हिंदू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश काल में विभाजित किया। 19–20वीं सदी में राष्ट्रवादी दृष्टि से अतीत के प्रति हमारी समझ पर इस काल विभाजन का बहुत भारी असर पड़ा।'[23]

इतिहास का इस तरह से तीन कालों में विभाजन तीन धार्मिक सत्ताओं के रूप में जाना व समझा जाने लगा। बाद में कुछ प्राच्यविदों ने भी औपनिवेशिक सत्ता के समर्थन

---

22 बिपिन चंद्र : आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता (लेख : साम्प्रदायिकता क्या है ?), पृ. 9–10.

23 रोमिला थापर – आर्य : मिथक और यथार्थ, पृ. 7.

में इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। जातीय पहचान को धर्म से जोड़ा गया और निःसंदेह जातीय पहचान की जो व्याख्या की गई उसके पीछे राजनीतिक–आर्थिक साम्राज्यवादी स्वार्थ निहित थे। भारत अतीत के प्रति संशय के कारण 'भारतीय मूल' का प्रश्न उछाला गया। 'भारत के मूल निवासी आर्य हैं (?) और हिन्दू धर्म यहाँ का मूल धर्म है (?) 'हिदू–आर्य संस्कृति ही भारत राष्ट्र की वास्तविक संस्कृति है ? इस तरह की संकीर्ण धारणा कभी किसी भी समय भारत की सच्चाई नहीं बन पाई। इसका खण्डन करते हुए प्रो. रोमिला थापर हमारे समक्ष वे ऐतिहासिक तथ्य रखती हैं जिससे पता चलता है कि इस तरह की धारणाएँ कितनी भ्रामक हैं। 'यूरोप में कुलीन वर्ग की आर्यों की संतान और किसानों को अनार्य बताने वाले फ्रांस के काउंट दे गोबिन्यू थे। 'एस्से आन मैन' उनका प्रसिद्ध ग्रंथ था, जिसमें उन्होंने पहली बार इस तर्क का प्रतिपादन किया। मैक्स मूलर इन विचारों और सिद्धांतों से परिचित थे और जब उन्होंने ऋग्वेद में इस यूरोपीय सिद्धांत को हूबहू पाया तो आर्यों को भारत का मूल निवासी बता दिया। ऋग्वेद के आधार पर उन्होंने लिखा आर्य श्रेष्ठ, ऊँचे पद वाले और सम्मानित लोग थे तथा दास का दर्जा नीचे होता था। दासों और आर्यों के बीच भेद करने के अलावा मैक्स मूलर ने अपने ग्रंथ में दासों पर आर्यों की विजय की बात भी कही। मैक्स मूलर ने इस विजय को सभ्यता प्रसार का मिशन माना। फिर अनेक यूरोपीय विचारकों ने इसी विचार को अपनाते हुए तर्क दिया कि यूरोपीय उपनिवेशवाद की सारी फतहें भी सभ्यता प्रसार के मिशन थीं।'[24]

इस तरह ऐतिहासिक तथ्य के आधार लिखित साहित्य व रचनाएँ थीं, जिन्हें जस का तस सत्य के रूप में अपना लिया गया। उनकी जाँच–पड़ताल करना अनावश्यक समझा गया। इतना ही नहीं बल्कि तथ्यों की व्याख्या अपने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति

---

24 रोमिला थापर – आर्य : मिथक और यथार्थ, पृ. 7.

करने के लिए ही की गई। भारत के आधुनिक राष्ट्र के इतिहास में इस तरह की धारणाओं को बदलने का प्रयास किया गया, जिसकी जरूरत आज तक बनी हुई है। इस आर्यवादी धारणा से ऊँची–नीची जातियों में विभाजन हुआ। जिससे संस्कृति, भाषा, जाति और सबसे ज्यादा धर्म के आधार पर साम्प्रदायिक उन्माद फैलाने की कोशिशें हुई हैं।

'हिन्दुत्ववादी तर्क के अनुसार आर्य लोग बाहर से नहीं आए थे, वे देशज थे तथा जो हिन्दू हैं वही आर्य हैं। ये आर्य संस्कृत भाषी थे। भारत में फैलकर ये पश्चिम एशिया और यूरोप में पहुँचे और साथ में आर्य सभ्यता को भी ले गए। इस प्रकार हिन्दू (धर्म) सबसे प्राचीन और सबसे उन्नत जनगण है।'[25]

धर्म और जातीय पहचान की यह अवधारणा यूरोप के राष्ट्र की अवधारणा के समकक्ष बनाने की कोशिश की गई। भारत को 'राष्ट्र' का दर्जा देने के लिए उसके 'स्वर्णिम अतीत' की परिकल्पना की गई। परंतु वास्तविकता यह है कि इस 'स्वर्णिम अतीत' में इतनी सामाजिक–धार्मिक बुराइयाँ, कुरीतियाँ और शोषण की व्यवस्था थी जिसका सामना करने के लिए कई समाज सुधारकों ने औपनिवेशिक शासन को बेहतर माना।

राष्ट्र–निर्माण की प्रक्रिया के दौरान कई सुधारक ऐसे भी हुए जिन्होंने 'धर्म' को निर्धारक तत्त्व मानते हुए, उसकी सकारात्मक भूमिका की व्याख्या की। विवेकानंद भारत के यूरोपीयकरण के विरोध में थे, वे भारत की देशी पहचान (स्थानीय अस्मिता) निर्मित करने के लिए 'धर्म' और 'आध्यात्मिकता' को एक माध्यम के रूप में देखते हैं। बिपिन चंद्र पाल और अरविंद ने भी आगे चलकर यही सिद्धांत अपनाया। 'धर्म' और आध्यात्मिकता को राष्ट्रीय जीवन का आधार बनाने की कोशिश की गई। जब विवेकानंद कह रहे थे कि राष्ट्रीय जीवन का धार्मिक आदेशों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए, तब वे धर्म

---

25 रोमिला थापर – आर्य : मिथक और यथार्थ, पृ. 77.

के पुरातनपंथी या रूढ़िवादी रूप को त्याग कर उसकी प्रगतिशील, क्रांतिकारी भूमिका और आधुनिक शक्ति के रूप में व्याख्या कर रहे थे।'[26] उनका मानना था कि 'मतवादों' धर्म–संघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रूढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिए। धर्म भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किए जाने चाहिए। बंकिम चंद्र की भांति विवेकानंद भी भारत को एक 'आराध्य देवी' मानते थे। भारत का अत्याधिक धार्मिक चरित्र राष्ट्र की आराध्य देवी रूप में कल्पना को आसानी से स्वीकार कर सकता था। इससे एक ही धर्म में मौजूद विभिन्न जातियों–उपजातियों के बीच सामुदायिक एकता की भावना पैदा करना सरल हो गया।

परंतु राष्ट्रवाद का वास्तविक चरित्र 'धर्म' पर निर्मित किया ही नहीं जा सकता। भारत की वास्तविक बुनियादी समस्याएँ 'धर्म' के माध्यम से खत्म की भी नहीं जा सकती क्योंकि जिन तत्त्वों को आधारभूत तत्त्व मान कर एकता लाने की कोशिश की जा रही थी उन्हीं से इसका खण्डन भी किया जा सकता था। इसलिए 'एकता' और राष्ट्रनिर्माण के लिए व्यापक, उदार चेतना की आवश्यकता थी जो कि 'धर्म' के आधार पर बनाई ही नहीं जा सकती थी।

19वीं सदी के आरंभिक वर्षों में बुद्धिजीवियों, सुधारकों व विचारकों ने राष्ट्रीय चेतना के उत्थान में भारत की धार्मिक परिस्थितियों को बदलना सबसे जरूरी समझा। भारत में अति धार्मिकता व आध्यात्मिकता रूढ़िवाद और पुरातनता का रूप ले चुकी थी जिसे बदलना आवश्यक हो गया। आधुनिक समाज के निर्माण और राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए नये मूल्यों की आवश्यकता थी। आधुनिक शिक्षा और यूरोप के प्रभाव के कारण शिक्षित प्रबुद्ध वर्ग भारत की स्थितियों को बदलने के लिए सामने आया। धार्मिक सुधार

---

26 विवेकानन्द : ऑन इंडिया एण्ड हर प्रॉब्लम्स, पृ. 102–103.

आंदोलन भारत की राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया का हिस्सा थे। अर्थव्यवस्था में भारी बदलाव भी सामाजिक मान्यताओं को पूरी तरह से नहीं बदल पाया जो काम धार्मिक सुधार आंदोलनो के माध्यम से पूरा हुआ।

सन् 1828 में राजा राममोहन राय ने (1772–1833) ब्रह्म समाज की स्थापना करके स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन ले कर आए। सति प्रथा, बालविवाह आदि का विरोध किया। आधुनिक मूल्यों व अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से धार्मिक कर्मकाण्डों व अंधविश्वासों को खत्म करने का प्रयास किया। वस्तुतः बंगाल क्षेत्र आधुनिक मूल्यों व आधुनिक शिक्षा का गढ़ था, जहाँ से सुधार आंदोलनों का आरंभ माना जा सकता है। बंगाली हिंदू, पश्चिमी शिक्षा के सम्पर्क में आने से हिन्दू धर्म की रूढ़ियों व पाखण्डपूर्ण क्रियाओं, मूर्तिपूजा व खोखले उपदेशों का विरोध करने लगा था। ... ईसाई मिशनरियों के आने से धर्म परिवर्तन और बाइबल के अनुवाद होने लगे थे।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने सबसे पहले 20 जनवरी 1817 को कालेज स्क्वायर में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की। जहाँ अंग्रेज़ी शिक्षा व पश्चिमी संस्कृति से पहली बार बंगाली युवा वर्ग का सम्पर्क कायम हुआ। हिन्दू समाज में इस तरह के परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रियाएँ होने लगीं। तब राजा राममोहन राय ने अपने नेतृत्व में 'आत्मीय' (1815) सभा बनाई। इसके द्वारा उन्होंने गैर अवतारवाद और एकेश्वरवाद की धारणा का प्रचार किया, जिसे अपनी संस्कृति का हिस्सा मानते थे। उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी, जिसने बाद में ब्रह्म समाज का रूप ले लिया।[27]

ब्रह्म समाज की स्थापना को प्रथम धार्मिक सुधार आंदोलन माना जाता है। धार्मिक कुरीतियों, कर्मकाण्डों के अलावा जात पाँत, ऊँच नीच, छुआछूत आदि का भी विरोध किया

---

27 हिरण्मय बनर्जी – ईश्वरचंद विद्यासागर : भारतीय संस्कृति के निर्माता, पृ. 7, 8

गया। जिसके लिए राजा राममोहन राय ब्रिटिश राज की सकारात्मक भूमिका का समर्थन करते थे, लेकिन वे राजनीतिक स्वतंत्रता के भी हक में थे। भारत की बौद्धिकता के विकास और सामाजिक मुक्ति के लिए वे ब्रिटिश राज को लाभप्रद मानते थे। "ब्रैह्मनिकल मैगज़ीन" (Brahaminical Magazine) नामक पत्रिका में 15 नवम्बर, 1823 में पण्डित शिवप्रसाद शर्मा के नाम से एक लेख प्रकाशित हुआ जो वस्तुतः राजा राममोहन राय ने ही लिखा था। इसमें उन्होंने लिखा ... "भारत में अंग्रेज़ी शासन के वरदान के लिए प्रायः धन्यवाद अर्पित किया करते हैं।"[28]

इन धार्मिक सुधार आंदोलनों ने सिर्फ सुधार का काम ही नहीं किया बल्कि धर्म की बौद्धिक तार्किक व्याख्या की भी शुरुआत की। ब्रह्म समाज के अलावा आर्य समाज दूसरा बड़ा सुधार आंदोलन था जिसके व्यापक प्रभाव ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को चुनौती दी। दयानंद सरस्वती द्वारा रचित 'सत्यार्थ प्रकाश' आर्यसमाजी सिद्धांतों का आधारभूत ग्रंथ है। जिसका मूल उद्देश्य हिन्दू धर्म के भीतर की कमज़ोरियों को निकाल कर उसे नई छवि प्रदान करना था। इसे उन्होंने 'वैदिक धर्म' कहा। डॉ. वीरभारत तलवार इससे संबंधित कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रस्तुत करते हैं – '1869 में सनातनी हिन्दू पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी जो 19वीं सदी के धार्मिक नवजागरण की सबसे मशहूर घटना बन गई। यह शास्त्रार्थ उन्होंने संस्कृत भाषा में किया था। 1873 में कलकत्ते में पहली बार ब्रह्म समाजी नेता केशवचंद्र सेन ने उन्हें सलाह दी कि अगर वे भारतीय जनता को जगाना चाहते हैं तो उन्हें अपनी बात संस्कृत में नहीं हिन्दी में कहनी चाहिए। दयानंद सचमुच जनता को जगाना चाहते थे। ... 1874 में (काम चलाऊ हिन्दी सीखकर) सत्यार्थ प्रकाश जैसा विलक्षण और बड़ा ग्रंथ तैयार कर डाला। सत्यार्थ प्रकाश के जरिए दयानंद ने हिंदी भाषा

---

28 वर्क ऑफ राम मोहन राय, (ब्रह्मसमाज, कलकत्ता 1928), पृ. 222

को वैदिक धर्म से जोड़कर उसे एक नया नाम – 'आर्यभाषा' देते हैं।[29]

इन धर्म सुधारकों के सामने जातीय गठन और राष्ट्र निर्माण के लिए यूरोपीय मॉडल था। राष्ट्र की आधुनिक अवधारणा के साथ ही साम्प्रदायिक चेतना भी पनपी, जिसका संबंध केवल धर्म में नहीं था, उसका प्रवेश भाषा, शिक्षा, संस्कृति आदि सभी क्षेत्रों में हुआ। धर्म के आधार पर राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया ने साम्प्रदायिक कट्टरता को फैलाने के लिए ज़मीन दे दी। 'आर्य समाज' जैसे संगठन की बाद में इसी साम्प्रदायिक राजनीति का हिस्सा बन गए। दयानंद वर्णव्यवस्था को समाप्त करने के स्थान पर 'उसका समर्थन करते थे।' डॉ. वीरभारत तलवार सत्यार्थ प्रकाश से उदाहरण देते हुए इस बात की पुष्टि करते हैं कि दयानंद वर्णव्यवस्था को जन्म से नहीं गुण कर्म से जोड़ते थे, लेकिन चारों वर्णों की हैसियत में फर्क करते थे। उनमें ऊँच–नीच का भेद मानते थे। इसके उल्टे गाँधी जी वर्णव्यवस्था को जन्म से मानने के बावजूद चारों वर्णों की हैसियत बराबर की मानते थे।'[30]

गाँधी 'हिन्दू धर्म' का त्याग नहीं करते, राष्ट्रीय आंदोलन में वे उसे भी आधार बनाते हैं पर साम्प्रदायिक एकता, वर्णव्यवस्था, जातपाँत आदि की नई व्याख्या करते हुए। गाँधी अपने आंदोलन में सफल इसलिए होते हैं क्योंकि वे केवल धर्म पर निर्भर नहीं रहते बल्कि उसके समकक्ष अन्य छोटे–छोटे आंदोलनों को चलाते हैं और इसकी प्रेरणा वे धर्म से ही लेते हैं। जैसे 'अहिंसा' को वे एक धर्म के रूप में परिभाषित करते हैं। सादा जीवन, चरखा कातना, ग्राम सेवा,, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आदि मिलकर व्यापक आंदोलन का रूप ग्रहण करते हैं। गाँधी 'गोरक्षा के मुद्दे' को भी नहीं छोड़ते – गोरक्षा को मैं हिंदू

---

29 वीर भारत तलवार : हिंदू नवजागरण की विचारधारा : सत्यार्थ प्रकाश – समालोचना का प्रयास, पृ. 10

30 वही, पृ. 32

धर्म का प्रधान अंग मानता हूँ। प्रधान इसलिए कि उच्च वर्गों और आम जनता दोनों के लिए यह समान हैं फिर भी इस बारे में हम जो केवल मुसलमानों पर ही रोष करते हैं, यह बात किसी भी तरह मेरी समझ में नहीं आती। अंग्रेज़ों के लिए रोज़ कितनी ही गायें कटती हैं। परंतु इस बारे में तो हम कभी जबान तक भी शायद ही हिलाते होंगे।'[31] इस प्रकार गाँधी ने हिन्दू–धर्म का सहारा लिया परंतु दूसरे धर्मों के प्रति घृणा फैलाकर नहीं जबकि आर्य समाज आंदोलन की सबसे बड़ी कमी यही थी कि वह संकीर्णता का शिकार हो गया। अन्य धर्मों के प्रति घृणा ही नहीं उन्हें गलत ठहराते हुए उनका विरोध किया।[32] आर्य समाजी आंदोलन पूरी तरह से हिन्दुत्ववादी सांप्रदायिकता की ओर झुक गया, इसका प्रमाण है उसका इस्लाम का और उसके सुधार आंदोलनों का विरोध। 'इस्लाम पर हमला करते हुए पंजाबी आर्यों ने इस्लाम की रूढ़िवादी परम्पराओं और उसके प्रगतिशील सुधार आंदोलनों के बीच कोई फर्क नहीं किया। बल्कि उनके हमले का पहला निशाना एक सुधारवादी आंदोलन 'अहमदिया' आंदोलन बना। यह भारतीय इस्लाम के अंदर उभरा एक सुधारवादी आंदोलन था जिसमें पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के साथ–साथ मुस्लिम परम्पराओं की नई व्याख्या करके सुधार लाने के प्रयत्न भी शामिल थे। आर्य समाज की तरह इस आंदोलन को भी अंदर और बाहर दोनों के विरोध झेलने पड़े।[33]

साम्प्रदायिकता 'सेल्फ' और 'अदर' (Self and other) के विभाजन के द्वारा एक संस्कृति, भाषा, धर्म, जाति की श्रेष्ठता का दावा करती है और दूसरों को हीन मानते हुए घृणा और द्वेष की भावना फैलाती है। 'राष्ट्र' एक आधुनिक अवधारणा थी तो उसी का दूसरा पहलू साम्प्रदायिकता थी।

---

31 गाँधी – मेरे सपनों का भारत, पृ. 251.

32 वीर भारत तलवार : हिंदू नवजागरण की विचारधारा, पृ. 70, 75.

33 वही, पृ. 78.

डॉ. तलवार 'आर्यसमाज' की इसी संकीर्ण राष्ट्र की अवधारणा का उल्लेख करते हैं – 'सत्यार्थ प्रकाश की विचारधारा के मुताबिक एक राष्ट्र होने के लिए एक ही धर्म का होना अनिवार्य है। यह विचार धार्मिक राष्ट्रवाद का बीज है। इसके साथ एक ही भाषा का होना भी अनिवार्य ठहराया गया। यह दयानंद की बुनियादी विचारधारा थी। सत्यार्थ प्रकाश में प्राचीन खुशहाल भारत में सिर्फ एक ही धर्म होने की बात कई जगह दोहराई गई है। ... वास्तव में ऐसी एकरूपता कभी होती नहीं। न ऐसी एकरूपता कभी थी। प्राचीनकाल में भी नहीं। यह किसी राष्ट्र के होने की जरूरी शर्त भी नहीं है जैसा कि पाकिस्तान से बंगलादेश के अलग होने या परस्पर लड़ने वाले विभिन्न मुस्लिम राष्ट्रों, विभिन्न ईसाई, बौद्ध राष्ट्रों के अस्तित्व से साबित होता है। एक धर्म के बावजूद समाज विभिन्न वर्गों में बँटा होता है। आर्थिक वर्गों के विभाजन की सच्चाई सत्यार्थ प्रकाश में कहीं नहीं मिलती।'[34] इस तरह के सुधारवादी आंदोलन संकीर्णता का शिकार हुए, जिसमें उनके निहित स्वार्थ थे। लेकिन इस साम्प्रदायिक संकीर्ण विचारधारा का प्रयोग साम्राज्यवादी राजनीति का भी सबसे बड़ा हथियार था – स्वदेशी आंदोलनों को कमज़ोर करने के लिए।

प्रो. बिपिनचंद्र बंगाल विभाजन को साम्राज्यवादी राजनीति का परिणाम मानते हैं जिसने धर्म को आधार बनाकर एक ही भाषिक प्रदेश को दो भागों में विभाजित कर दिया। 'उस समय बंगाल की आबादी सात करोड़ 85 लाख थी। गुलाम–भारत की कुल आबादी का लगभग एक चौथाई। उड़ीसा और बिहार भी इसी राज्य के हिस्से थे। असम 1874 में ही अलग हो गया था। इतने बड़े राज्य का प्रशासन चलाना वास्तव में कठिन था, लेकिन अंग्रेज़ों ने इस राज्य के बँटवारे का फैसला प्रशासनिक कारणों से नहीं, बल्कि राजनीतिक कारणों से लिया। ... इस विभाजन योजना में एक और विभाजन अंतर्निहित था। धार्मिक

---

34 वीर भारत तलवार : हिंदू नवजागरण की विचारधारा, पृ. 83.

आधार पर विभाजन। 19वीं सदी के अंत में अंग्रेज़ों ने कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर करने के लिए मुस्लिम सांप्रदायिकता को भड़काने का काम शुरू किया।'[35]

राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में कई कार्यकर्त्ता और संगठन उग्र साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए भी उदार साम्प्रदायिक ढाँचे के अंतर्गत ही काम कर रहे थे। प्रो. बिपिनचंद्र इसे 'नरमपंथी साम्प्रदायिकता' कहते हैं। 'उदार सांप्रदायिकतावादी भी मूलतः साम्प्रदायिक राजनीति ही कर रहा था, फिर भी उसकी आस्था कुछ उदारवादी, लोकतांत्रिक, मानवतावादी और राष्ट्रीयतावादी मूल्यों में थी। वह यह तो मानता ही था कि भारत का निर्माण ऐसे विभिन्न धर्माधारित समुदायों से हुआ है, जिनके अपने अलग–अलग और विशेष हित हैं ... फिर भी वह सार्वजनिक रूप से यह कहता था कि इन विभिन्न सांप्रदायिक हितों को परस्पर समाहित किया जा सकता है तथा सामान्य राष्ट्रीय हितों से उनकी संगति बैठाई जा सकती है और इस प्रकार भारत को एक राष्ट्र बनाया जा सकता है। 1937 के पहले अधिकांश साम्प्रदायिकतावादी मसलन 1925 के पूर्व हिंदू महासभा, मुस्लिम लीग, अली बंधु तथा 1922 के बाद मुहम्मद अली जिन्ना, मदनमोहन मालवीय, लाजपतराय और एन.सी. केलकर इसी उदारवादी साम्प्रदायिक ढाँचे के तहत काम करते थे।'[36]

राष्ट्र में जनता की बुद्धि को नियंत्रित किया जाता है और भारत जैसे देश में यह लोगों की धार्मिक चेतना को नियंत्रित करके ही संभव था। जिससे उनके विचारों और भावनाओं को गढ़ा जा सके। उनकी आध्यात्मिक चेतना को नियंत्रित करके उन्हें संकीर्ण मार्ग पर चलने के लिए आसानी से विवश किया जा सके। 'राष्ट्र' एक राजनीतिक चेतना

---

35 बिपिन चंद्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 84–85.

36 वही, पृ. 320.

थी, राजनीतिक कार्यक्रम था। जिसका उद्देश्य समाज को ऐसी व्यवस्था में परिवर्तित करना था जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ समुदाय एक छतरी के नीचे आ सकें। इस राजनीति की शुरुआत औपनिवेशिकता से ही हुई। जैसा कि प्रो. बिपिनचंद्र लिखते हैं – "औपनिवेशिकता भारत में राष्ट्र निर्माण का एक मात्र कारण थीं इसी के लिए कांग्रेस ने अपना गठन किया, राष्ट्रीय विचारधारा का निर्माण किया और राष्ट्रीय कार्यक्रम सामने रखे।[37] लेकिन किसी भी तरह के सामाजिक सुधारों पर चर्चा करने के लिए कांग्रेस को उचित मंच नहीं माना गया क्योंकि इससे विभिन्न समुदायों की धार्मिक चेतना आहत होने का खतरा था।

धार्मिकता विभिन्न जातीय समुदायों में बँटी हुई थी इसलिए विभिन्न समितियों और सभाओं का गठन किया गया जिससे राष्ट्र के राजनीतिक परिवेश का निर्माण हुआ। '1676 में बंगाल के युवा राष्ट्रवादियों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनंद मोहन बोस के नेतृत्व में 'इण्डियन एसोसिएशन' का गठन किया। इसी तरह इसके जैसी अनेक सभाओं का देश भर में गठन हुआ। मद्रास महाजन सभा, 1865 में बाम्बे प्रेजीडेंसी एसोसिएशन, पूना सार्वजनकि सभा ... इन सभाओं ने अनेक अखिल भारतीय सम्मेलन किए जिससे नए राजनीतिक जीवन की उत्पत्ति हुई।'[38]

गाँधी भी औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध भारतीय जनता को तब तक तैयार नहीं कर सकते थे जब तक वे उसके धार्मिक जीवन को न समझते। नैतिकता, अहिंसा, आध्यात्मिकता के भावों को नए धर्म ने धार्मिक मूल्यों के रूप में स्थापित किया। इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में गाँधी 'धर्म' को छोड़ते नहीं। बहुसंख्यक को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़े रखने के लिए वे धर्म पर अपने विचार रखते हैं। हिन्दू धर्म को वे उसके 'वैदिक' रूप में अपनाते हैं और खुद को एक 'सनातनी हिंदू' बताते हैं। लेकिन इसके साथ

---

37 बिपिन चंद्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 40–43.

38 वही, पृ. 39.

ही वे परस्पर 'सहिष्णुता' के नए मूल्य को स्थापित करते हुए संकीर्ण विचारधाराओं से अपने आपको अलग भी कर लेते हैं – 'कोई आर्यसमाजी प्रचारक अपने धर्म का और मुसलमान प्रचारक अपने धर्म का उपदेश करता है और उससे हिंदू मुस्लिम एकता खतरे में पड़ जाती है तो कहना चाहिए कि यह एकता बिल्कुल ही ऊपरी है।'[39] ऐसी प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए वे धर्म में मौजूद रूढ़ियों को भी बदलने की कोशिश करते हैं – '... ऐसी हालत में मैं तो यह चाहता हूँ कि सब हिंदू अपने को स्वेच्छापूर्वक शूद्र कहने लगें।'[40]

स्वाधीनता के बाद जिस तरह की साम्प्रदायिक राजनीति का विकास हुआ है, उसमें 'बहुसंख्यक–साम्प्रदायिकता' ने हिंदू राष्ट्र निर्माण के आधार पर राजनीति की है। 'इनकी प्रेरणा के मुख्य स्रोत हिटलर, मुसोलिनी और यहाँ तक कि खुमैनी होंगे।' विष्णु 'हिन्दू राष्ट्र' की धारणा की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि इनके अधिनायक इस तरह के इसलिए हैं क्योंकि '... इनके हिंदू और हिंदुत्व की धारणा के स्रोत फासीवाद, नस्लवाद और मुस्लिम विरोध में हैं। ... इस प्रकार जो राष्ट्र ये बनायेंगे वह मुस्लिम दलित–स्त्री विरोधी होगा। वर्ण व्यवस्था समर्थक होगा।' लेकिन एक सच यह भी है कि इस तरह की संकीर्ण[41] विचारधाराओं के लिए 'हिन्दू राष्ट्र' का निर्माण करना इतना आसान भी नहीं है। अब मूल समस्या सांस्कृतिक वर्चस्व और वर्गों के परस्पर टकराव की है। फिर भी आम जनमानस में धर्म की आवश्यकता बनी हुई है। मस्तराम कपूर सांप्रदायिकता के बढ़ने के बावजूद यह मानते हैं कि 'धर्म की आवश्यकता बनी रहेगी और वह तब तक बनी रहेगी जब तक मनुष्य कमजोर, बेबस, भयभीत है और दुखों, तकलीफों का सताया हुआ है। ईश्वर मात्र एक

---

39 गाँधी – मेरे सपनों का भारत, पृ. 257.

40 वही, पृ. 262.

41 राजकिशोर (संपादक) – अयोध्या और उससे आगे, पृ. 64.

ख्याल ही सही वह मनुष्य को सांत्वना देता है।'[42] इसलिए लेनिन मार्क्स की इस बात को सबसे पहले रेखांकित करते हैं कि एक मार्क्सवादी कभी धार्मिक या आस्तिक नहीं हो सकता, वह समाज में भौतिकवादी चेतना का प्रसार करेगा लेकिन इसके साथ ही जब वह मज़दूरों और आम जनता के बीच अपनी पार्टी के विचारों का प्रसार करेगा तो उनकी आस्थाओं के साथ छेड़छाड़ नहीं करेगा क्योंकि वे बेबस और लाचार हैं और एक मात्र ईश्वर ही उनकी बेबसी का आसरा हैं।'[43]

प्रत्येक धर्म में आस्था की कट्टरता, संकीर्णता और साम्प्रदायिक होने की प्रकृति होती है। हिन्दुओं के जनसंघ राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, यहाँ तक कि आर्यसमाज भी और मुसलमानों ने मुस्लिम लीग जैसे संगठन स्वाधीनता आंदोलन के दौरान ही बनाए। मस्तराम कपूर भी मानते हैं कि 'धर्म का साम्प्रदायिक होना अनिवार्य है, क्योकि वह एक सम्प्रदाय विशेष के लोगों को आकृष्ट करता है ... धर्म साम्प्रदायिक तब बनता है जब धर्म सत्ता के रूप में काम करने लगता है और इस प्रक्रिया में दूसरे धर्मों के साथ उसकी होड़ चलती है।'[44] इस तरह की प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया में दूसरे धर्म भी साम्प्रदायिकता और कट्टरता को अपना लेते हैं। भारत के संदर्भ में भी हिंदू धर्म के साथ–साथ मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों में भी यही विचारधारा काम कर रही है।

रोमिला थापर इसे बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता के रूप में अलग–अलग देखती हैं। वे लिखती हैं, 'आज सबसे उग्र साम्प्रदायिकता उस समुदाय की है, जिसे 'बहुसंख्यक' कहा जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता है ही नहीं।' वे इसे 19वीं सदी की परिकल्पना मानती हैं, इसलिए 'आर्य

---

42 वही, पृ. 104.

43 लेनिन ऑन रिलीजन – पृ. 20.

44 राजकिशोर (संपादक) – अयोध्या और उससे आगे – पृ. 104.

नस्ल के सिद्धांत' और धर्म की प्राचीनता के दावे को एक मिथक के रूप में विश्लेषित करती हैं।[45]

स्वाधीनता से पूर्व उपजी साम्प्रदायिकता के इतिहासकार बिपिनचंद्र 'मूलतः उपनिवेशवाद के दुष्परिणामों में से एक' मानते हैं लेकिन स्वाधीनता के बाद साम्प्रदायिकता की राजनीति का विस्तार अन्य क्षेत्रों में भी हुआ। जिसे वे सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक आधारों के साथ ही विचारधारात्मक और सांस्कृतिक भूमि पर भी विद्यमान पाते हैं। '1950 के दशक से साम्प्रदायिक क्षेत्रीय भाषाई व जातीय दंगों की बाढ़ ने देश को बारंबार उद्वेलित किया है। लोगों को राजनीतिक रूप से अपने पक्ष में करने के लिए चुनावी और गैर चुनावी दोनों ही ढंग से साम्प्रदायिक एवं जात पाँत पर आधारित अपील का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल हुआ है। इसके विपरीत 'धर्मनिरपेक्षता' की विचारधारा को वे कभी भी इतनी मज़बूत स्थिति में नहीं देखते जितना कि हाल के वर्षों में साम्प्रदायिकता की भावना की जड़ें मज़बूत हुई है।[46]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'धर्म' को वर्तमान संदर्भों में केवल एक जीवन पद्धति या आस्था के मूल्यों की संरचना के रूप में नहीं देखा जा सकता है। 'धर्म' राष्ट्र के राजनीतिक तत्व के रूप में तबदील हो चुका है। उसकी सामाजिक आवश्यकता से कहीं ज्यादा उसका राजनीतिकरण हुआ है जिसके दुष्परिणाम समय–समय पर हमारे सामने हिंसा, दंगे, साम्प्रदायिकता, अलगाववाद के रूप में आए हैं। आश्चर्यजनक बात यह है कि धर्म का राजनीतिकरण भाषा से जोड़कर ही किया गया।

---

45 मालिनी भट्टाचार्य (सम्पादक) – अयोध्या कुछ सवाल, पृ. 21.

46 बिपिन चंद्र : आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 234.

(iii) राष्ट्रवाद और भाषा

एक ही धर्म को मानने वाले भिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों का निर्माण कर सकते हैं और इसके विपरीत एक राष्ट्रीय संस्कृति के लोग भिन्न धर्मों को मानने वाले हो सकते हैं। इसका आधार है भाषा और भारत में ये दोनों ही स्थितियाँ देखी जा सकती हैं। इसलिए यह माना जा सकता है कि राष्ट्रीय संरचना के आधारभूत तत्त्व मात्र वाहन है, एक व्यापक लक्ष्य तक पहुँचने का परंतु ये तत्त्व अपने स्वतंत्र रूप में राष्ट्रीयता का निर्माण करने में अपर्याप्त हैं। जैसा कि प्रो. बिपिनचंद्र लिखते हैं – "देश और जनता के बढ़ते हुए आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण, भारत को एक राष्ट्र बनाने की प्रकिया, उपनिवेशवाद तथा भारतीय जनता के बीच बढ़ते हुए विरोध और आधुनिक सामाजिक वर्गों तथा संस्तरों के निर्माण से यह आवश्यक हो गया कि लोगों के लिए अधिक विस्तृत संबंध और निष्ठाएँ हों तथा अधिक विस्तृत एकता और पहचान की खोज की जाए। उन्नीसवीं शती में भारत में उत्पन्न होने वाली आधुनिक राजनीति की नवीनता भी इसका एक कारण थी। ... अवश्यंभावी था कि वे अधिक विस्तृत संबंधों को बनाने के लिए भी जाति, स्थानीयता, अंचल, कौम, धर्म, पंथ, पेशे जेसी पूर्वाधुनिक श्रेणियों का ही प्रयोग करते और नई पहचान और नई विचारधाराएं भी इन पर आधारित होतीं।"[47]

इस नवीन और व्यापक पहचान को निर्मित करने में एक आधार 'भाषा' भी थी जो कि अन्य सभी आधारों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण थी। 'भाषा' शायद संस्कृतियों की स्वायत्तता की मांग के कारण अलगाव का कारण भी बन सकती थी लेकिन यह करना भी उतना आसान न था क्योंकि भारतीयों के पास लम्बे समय से एक 'साझी सांस्कृतिक विरासत' थी। भाषा भिन्न संस्कृतियों को परस्पर नज़दीक लाने का भी काम करती है।

---

47 बिपिन चंद्र : आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 14.

उदाहरण के तौर पर भारत की भिन्न बोलियों और हिन्दी के बीच संबंधों को देखा जा सकता है कि किस प्रकार साहित्य रचना के माध्यम से साझी सांस्कृतिक विरासत का निर्माण सहजता से होता रहा। डॉ. रामविलास शर्मा 'बोली और भाषा' नामक लेख में हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकारों के साथ अन्य भाषाओं के साहित्यकारों के संबंध पर विस्तार से लिखते हैं, उसका एक छोटा–सा उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है – 'नागार्जुन ने मैथिली में भी रचनाएं की हैं, बलचनमा आदि उपन्यास हिन्दी में लिखे हैं। 'राहुल जी की भोजपुरी रचनाएं संख्या में उनकी हिन्दी कृतियों का शतांश भी नहीं है। कवि रूप में दिनकर, आलोचक रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी के कारण विख्यात हैं। इसी प्रकार अवधी क्षेत्र में प्रतापनारायण मिश्र से लेकर निराला तक, ब्रज क्षेत्र में राधाचरण गोस्वामी से लेकर पद्मसिंह शर्मा तक, बुंदेलखण्ड में मैथिलीशरण गुप्त और वृंदावन लाल वर्मा जैसे दिग्गज हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते रहे हैं। ... क्या बंगला और मैथिली के अलगाव पर जोर देने वाले मित्र भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, प्रसाद निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, दिनकर आदि साहित्यकारों को अपनी 'भाषा' का साहित्यकार मानने से इनकार करेंगे ? क्या वे इनके हिन्दी कृतित्व को उसी दृष्टि से देखेंगे – जिस दृष्टि से मराठी या तेलगु भाषी पाठक प्रेमचंद या मैथिलीशरण गुप्त को देखते हैं या जिस दृष्टि से हम हिन्दी–भाषी पाठक रवींद्रनाथ ठाकुर को देखते हैं ?"[48]

साहित्य–रचना के माध्यम से शब्द–भण्डार का आदान–प्रदान, भौगोलिक–क्षेत्रीय दूरी को कम करके एक दूसरे को जानने–समझने की क्रिया और सम्मिलित सांस्कृतिक पहचान का निर्माण हुआ। इसलिए न्गुगी वा थ्योंगो साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष करने

---

48 डॉ. रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ. 359.

के लिए अपनी भाषाओं में साहित्य रचना को महत्वपूर्ण मानते हैं। "औपनिवेशिक ताकतें अपने आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण को ज्यादा मुक्कमिल रूप देने के लिए सांस्कृतिक परिवेश पर अपना नियंत्रण बनाने की कोशिश करती हैं। शिक्षा, धर्म, भाषा, साहित्य, गीत, नृत्य के विविध रूप, अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप आदि पर नियंत्रण करके वे जनता के समग्र मूल्यों पर नियंत्रण हासिल कर लेती हैं और अंततः जनता के विश्व दृष्टिकोण पर भी उनका नियंत्रण हो जाता है और इसी के अधीन लोग खुद को परिभाषित करने लगते हैं ..."[49] इस प्रकार न्गुगी अफ्रीका के भाषिक समाजों की पराधीन मानसिकता और सांस्कृतिक गुलामी का विश्लेषण करते हुए इस बात को हमारे सामने रखते हैं कि साम्राज्यवादी ताकतों के लिए किसी भी के अस्त्र से अधिक शक्तिशाली हथियार है – 'सांस्कृतिक जीवन को समाप्त कर उसे गुलाम बनाकर अपने शासन को स्थायित्व प्रदान करना।

साम्राज्यवादी राजनीति के परिणाम स्वरूप और राष्ट्रवाद विरोधी आधुनिक 'छद्म चेतना' साम्प्रदायिकता का भी विकास हुआ। उत्तर औपनिवेशिक आलोचना की शब्दावली में कहें तो 'बाइनेरी आपोज़ीशन के रूप में इन्हें देखा जा सकता है। जिन तत्त्वों के आधार पर राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है उन्हीं के आधार पर संकीर्ण विचारधारा उसे खण्डित भी कर सकती है। पर जैसा कि आधुनिक इतिहासकारों ने इसे एक 'छद्म चेतना' की संज्ञा दी है जोकि वास्तविकता में होती नहीं बल्कि आम जनमानस की चेतना में यह अहसास जगाया जाता है जिसका कोई ठोस या भौतिक आधार नहीं होता। महत्वपूर्ण बात यह है कि धर्म और जाति की तरह 'भाषा' का प्रयोग आम जनमानस के बीच अलगाव और विभाजन के लिए किया गया। 'साम्प्रदायिकता या धर्म पर आधारित पहचान बनाना

---

49 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 54.

आधुनिक भारत में उदय होने वाली एक मात्र छद्म चेतना नहीं थी। ऐसी ही एक अन्य छद्म चेतना थी जात–पाँत के आधार पर बनाई जाने वाली पहचान और ऐसी ही अन्य अनेक भी'[50] इन 'अन्य अनेक आधारों' में भाषा भी एक ऐसा ही सशक्त आधार था। जिसे कभी धर्म से जोड़ा गया, कभी जातपाँत या समुदाय विशेष से। हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भड़काने में केवल धार्मिक अलगाववाद ही नहीं भाषिक भेद को आधार बनाकर अलग राष्ट्र की माँग रखी गयी। इसलिए स्वाधीन भारत में धर्म के आधार पर उठाई गई किसी भी प्रकार का कोई स्थान नहीं था और भारत को एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बनाने के प्रयास किए गए। लेकिन इसके साथ ही भिन्न समुदायों की सांस्कृतिक स्वायत्तता और अस्मिता को स्थान देने के लिए और उनके प्रतिनिधित्व के लिए भाषाई राज्यों के निर्माण का प्रस्ताव किया गया। राष्ट्रवाद के साथ जिस नई आधुनिक राजनीति का विकास हो रहा था उसमें एक उपनिवेशवाद विरोधी थी तो दूसरी साम्प्रदायिक। भाषा के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए बिपिन चंद्र लिखते हैं – 'भाषाई राज्यों की माँग के पीछे एक साझी सांस्कृतिक विरासत और साझे सांस्कृतिक विकास की आवश्यकता झलकती है। ... इस माँग को बड़ी सरलता से राष्ट्रवाद में स्थान मिलता है।'[51]

धर्म के आधार विभाजन के इतिहास से गुज़रने के बाद भारत राष्ट्रीयता की रक्षा के बाद भारत राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए किसी भी तरह के साम्प्रदायिक खतरे को उठाना नहीं चाहता था। इसके लिए भाषाई–राज्यों के निर्माण को आवश्यक माना गया पर क्या यह अवधारणा व्यापक सांस्कृतिक चेतना का निर्माण करने में सहायक हो पाई ? धर्म, जाति या भाषा के आधार पर साम्प्रदायिक चेतना से लड़ने के लिए 'राष्ट्रवाद का विकास' अपर्याप्त धारणा है। वह इस समस्या का समाधान कभी बन भी नहीं सकती। जब हिन्दी

---

50 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 16.

51 वही, पृ. 15.

को हिन्दुओं की भाषा और उर्दू को मुसलमानों की भाषा बताकर साम्प्रदायिक उन्माद पैदा किया गया तब इस बात पर ध्यान न गया कि हिन्दू धर्म के अनुयायी गुजराती, हिमाचली, राजस्थानी, मारवाड़ी, बंगाली, मराठी, असमिया, तमिल, तेलगु या कन्नड आदि किसी भी भाषिक समुदाय के लोग हो सकते हैं। सभी अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान का निर्माण करते हैं। न केवल भाषिक कारणों से बल्कि भौगोलिक कारणों से भी। इसी तरह बंगाली, मराठी, तमिल, तेलगु आदि भाषाओं को बोलने वाले सिर्फ हिन्दू नहीं हैं, वे इस्लाम या ईसाई धर्म के अनुयायी भी हो सकते हैं। धर्म या भाषा के आधार पर सामुदायिक पहचान बताने वाली राजनीति ने हमेशा ही आम जनमानस को भ्रमित किया है चाहे वह स्वतंत्रता से पूर्व हो या उसके बाद भी, अनेक उदाहरण स्वतंत्र भारत में पाए गए।

पॉल ब्रास इसे 'आभिजात्य वर्ग' की राजनीति मानते हैं जो सत्ता में अपनी जगह बनाए रखने के लिए इन्हें ऐसे उपकरण के रूप में इस्तेमाल करती है जो लोगों को बाँटती है। पंजाबी सूबे की माँग कितनी जायज थी ? कितनी राजनीतिक ? इसका विश्लेष्ण करते हुए पॉल ब्रास अपने शोध ग्रंथ में आर.एस.एस. और जनसंघ जैसे संगठनों की भूमिका के बारे में लिखते हैं। ऐसे संगठन जो धर्म को आधार बनाकर राजनीति करते आए, जो हिन्दू राष्ट्र और हिन्दी भाषा को जोड़ते आए थे। पंजाब में वे अलग राजनीतिक कदम उठाते हैं – 'आर्यसमाजी मूलतः हिंदुओं को हिंदू धर्म के मूल्य हिंदी भाषा में शिक्षित करने के पक्ष में थे और वह भी हिंदी की देवनागरी लिपि में परंतु राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और जनसंघ पंजाब में हिन्दू राजनीतिक प्रभुत्व कायम रखने तक सीमित रहे, इसलिए इनके बीच एक विभाजन रेखा बन गई। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनसंघ की हिन्दू राजनीतिक सत्ता अधिक महत्वपूर्ण थी फिर चाहे पंजाबी भाषा रहे या हिन्दी भाषा इसके लिए वे किसी भी तरह का समझौता करने को तैयार थे।'[52]

---

52 पॉल ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 333.

धर्म के साथ–साथ भाषा भी विभाजन का मुख्य कारण बन गई। भारत जैसे देश में जहाँ बहु–सांस्कृतिक समुदाय और राष्ट्रीयताएँ मिल कर राष्ट्र राज्य का निर्माण करती हैं, अब वे अपने राजनीतिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए 'भाषा' को आधार 'बना' कर आगे आने लगे।

एक धर्म को मानने वाले भी 'भाषा' को आधार बनाकर अपनी भिन्न पहचान बनाने लगे और अन्य संस्कृतियों, समुदायों से स्वयं को अलग बता कर राजनीतिक सत्ता में हस्तक्षेप करने लगे। समुदायों की धार्मिक पहचान के अलावा भाषिक पहचान राजनीति में विशेष महत्व रखने लगी। भाषा के साथ ही लिपि पर भी विवाद चलता रहा। ध्यान देने की बात यह है कि ये कभी समस्याएं थी ही नहीं जिन्हें समस्या बना कर प्रस्तुत किया गया। हिन्दी के विवाद में जब लिपि के चुनाव का प्रश्न सामने आया तब इन्हें दो अलग अलग भाषाएँ बना कर इनकी भिन्न सांस्कृतिक–धार्मिक पहचान भी निर्मित की गई। जबकि वास्तविकता यह थी कि 'उर्दू हिन्दी से बहुत अलग भाषा नहीं थी, सच्चाई तो यह है कि हिन्दी का एक विकसित रूप, निखरा हुआ रूप उर्दू थी या हिन्दी के ही भिन्न बोलियाँ जो मौजूद थीं, उसी तरह उर्दू थी। यह एक बहुत बड़ी भूल थी जिसमें भाषा और लिपि के मुद्दे को उलझा दिया गया। सबसे बड़ी वास्तविकता तो यह थी कि उर्दू सिर्फ मुसलमानों की ही नहीं बल्कि पूरे उत्तर भारत की सम्पर्क भाषा थी, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों इसका समान रूप से प्रयोग करते थे।'[53]

भारतीय भाषाओं में परस्पर विवाद और चुनाव के अलावा एक और समस्या थी – राष्ट्र की भाषाएँ बनाम औपनिवेशिक भाषा अंग्रेज़ी का प्रभुत्व। अंग्रेज़ी में शिक्षा, अनुवाद आदि कार्य 19वीं सदी से ही आरंभ हो गए थे, यहाँ तक कि कई सुधारकों ने

---

53 पॉल ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 133.

अंग्रेज़ी शिक्षा की मदद से ही अपने काम को आगे बढ़ाया। 'ब्रह्म समाज' के अंदर अंग्रेज़ी शिक्षा का सबसे अधिक प्रभाव देखा गया इसके विपरीत आर्यसमाज हिन्दी और देवनागरी लिपि का पक्ष ले रहा था परंतु वह हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा और विचारधारा को लेकर चल रहा था। जिसके अनुसार हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं को जोड़ने का काम 'मूलस्रोत संस्कृत' द्वारा किया गया। फारसी और उर्दू को बाहरी भाषा बता कर मुसलमानों को पृथक किया गया।

इस संकीर्ण साम्प्रदायिक विचारधारा के कारण भारतीय राष्ट्र की विस्तृत व्यापक संरचना को धक्का पहुँचा। उर्दू और मुसलमानों के विरोध की राजनीति की वास्तविकता कुछ और ही थी। 19वीं सदी के समय के आंकड़ों को सामने रखते हुए पॉल ब्रास लिखते हैं – '1899 और 1921 के बीच के आंकड़े यह दर्शाते हैं कि सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की संख्या सबसे अधिक थी, उनके समुदायों को विशेषाधिकार प्राप्त थे और प्रशासन में उनका भद्र वर्ग अधिक प्रभुत्वशाली था। जबकि हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में उनके हक नहीं मिले थे और सरकारी पदों पर उनकी संख्या मुसलमानों की तुलना में कम थी।'[54]

औपनिवेशिक शासन की सरकार में अपने अधिकारों को सम्मिलित रूप से रखने के बजाय साम्प्रदायिक उन्माद का सहारा लिया गया। यह भारतीयों के राष्ट्रीय आंदोलन को कमज़ोर करने और तोड़ने के लिए काफी था। बिपिन इसे पूरी तरह औपनिवेशिक राजनीति का ही परिणाम मानते हैं जिसके कारण हिन्दू मुसलमानों के बीच धार्मिक भाषिक विवाद बढ़े। बाद में राष्ट्रीय राजनीति के अंदर सभी भाषिक संस्कृतियों में भी सामुदायिक अस्मिता के प्रश्न को लेकर इस तरह के विवाद उठे। 'सच तो यह है कि,

---

54 पॉल ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 156.

सामाजिक, आर्थिक परिस्थिति के बावजूद ब्रिटिश नीति ही साम्प्रदायिकता के मुद्दे में निर्णायक घटक रही थी। आख़िरकार साम्प्रदायिकता से सबंद्ध सामाजिक वर्गों और समूहों – जमींदारों – से लेकर निम्न मध्यवर्ग तक के पास तो राजनीतिक सत्ता थी नहीं जिससे वे साम्प्रदायिक राजनीति द्वारा अपने हितों को आगे बढ़ा सकते। यहाँ तक कि वे ऐसा करने का साहस भी नहीं कर सकते थे, यदि उन्हें उपनिवेशी राज्य का समर्थन न मिला होता।'[55] इसी ब्रिटिश नीति का परिणाम था जब "उत्तर पश्चिम प्रोविन्स और शुरू में 1900 में वहाँ के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर ए.पी. मैक डानल्ड ने अदालती भाषा उर्दू के साथ हिन्दी को भी समान दर्जा देने का सर्कुलर निकाला। 1837 तक केवल उर्दू ही अदालती भाषा थी ...' दूसरी ओर स्थिति यह थी कि शिक्षित और भद्र वर्ग की भाषा का दर्जा अंग्रेज़ी ले चुकी थी। यह एक तरह से सभी राष्ट्रीय संगठनों के भद्र वर्ग समुदाय के लिए पूर्व निश्चित हो गया था कि वे अंग्रेजी जानें। 1885 से 1920 के बीच इस तरह का वर्ग भारतीय राजनीति को प्रभावित कर रहा था।'[56]

पॉल आर. ब्रास केवल भद्र और अभिजन वर्ग की भूमिका देखते हैं परंतु यदि बिपिन चंद्र के तर्क से देखा जाए तो यह भद्र वर्ग ब्रिटिश शासन के अधीन ही काम कर रहा था, भले ही उसकी राजनीति ब्रिटिश शासन का विरोध कर रही थी।

इस प्रकार यह स्पष्टतौर पर देखा जा सकता है कि धर्म की तरह 'भाषा' भी साम्प्रदायिक संकीर्णता का आधार बनी। बल्कि भाषा के आधार पर 'सांस्कृतिक वर्चस्व' कायम किया जा सकता है खासकर वर्तमान संदर्भों में जब विश्व अर्थव्यवस्थाओं के बीच संबंध बन रहे हैं तब भाषा उस प्रभुत्व को बनाने में सबसे बढ़ा माध्यम है। विकसित देशों

---

55 बिपिन चंद्र : आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, पृ. 179.

56 पॉल ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 156–157.

में भाषा के आधार पर राष्ट्र की भौगोलिक सीमाओं का कोई महत्व नहीं रह गया या कहें यह महत्व खत्म कर दिया गया – अंग्रेज़ी के माध्यम से। जबकि तीसरी दुनिया के देश आज भी अपनी भौगोलिक सीमाओं को लेकर निश्चित नहीं हैं। संशय, भय, आतंक, युद्ध आदि में उलझे हुए हैं। अर्थव्यवस्था, बाज़ार और विश्व राजनीति पर अंग्रेज़ी का प्रभुत्व कायम है। भारत में अगर साम्प्रदायिक–सामुदायिक संकीर्णता की समस्या रही तो अफ्रीका के संदर्भ न्गुगी वा थ्योंगो 'नस्लवाद' की समस्या का विश्लेषण करते हैं। 'यह नस्लवाद अंग्रेज़ी भाषा की मूल बनावट में ही अभिव्यक्त होता है। दुनिया में जितनी भी भाषाएँ हैं, उनमें संभवतः अंग्रेज़ी सबसे ज्यादा नस्लवादी भाषा है। आपको ढेर सारे ऐसे शब्द मसलन ब्लैक मार्केट, ब्लैक मेल, ब्लैक लिस्ट आदि मिल जाएँगे जिनसे मूल्य के स्तर पर कालेधन की भाषात्मक नकारात्मक परिभाषा सामने आई है। गोरे नस्लवादियों की इन चालों को धर्म ने और खास तौर पर ईसाइयत ने और भी ज्यादा मज़बूरी दी, जिसने ईश्वर, ईसा मसीह, देवदूतों आदि को तो सफेद रंग का बताया गया जबकि पाप, शैतान आदि को काले रंग का चित्रित किया।" इस तरह न्गुगी विस्तार से भाषा में सांस्कृतिक, सामाजिक विचारों का विस्तार से विश्लेषण करते हैं। वे निष्कर्ष देते हैं कि उपनिवेशों में रहने वाले लोगों के आर्थिक शोषण और राजनीतिक उत्पीड़न की मुकम्मल व्यवस्था करने में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद पूरी तरह जुड़ा हुआ है ...'[57] नव औपनिवेशिक दौर में केवल 'भाषा' जैसा अस्त्र इतना शक्तिशाली हो सकता है जिसके द्वारा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कायम किया गया है। जो राष्ट्रवाद में 'भ्रम' को भी बनाए हुए हैं और भाषा के माध्यम से अपनी संस्कृति, अपना सामान, स्थानांतरित कर रहा है। 'अंग्रेज़ी' पर पूरी अर्थव्यवस्था कायम है। इस प्रक्रिया में आर्थिक रूप से पराधीन राष्ट्रों की भाषाओं को हतोत्साहित किया जा रहा है या दमन हो रहा है। उनमें शिक्षा पाने वालों या साहित्य रचने वालों को

---

57 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 11.

भी हतोत्साहित किया जाता है। आज इसके केंद्र में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की अहंम् भूमिका है। डॉ. रामविलास शर्मा इस दावे को गलत मानते हैं कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सबकी मातृभाषा अंग्रेज़ी है। '... अमेरिका में इतालवी, स्पेनी, फ्रांसीसी भाषाएं बोलने वाले लाखों की संख्या में है। इन सबकी राज्य भाषा अंग्रेज़ी है।'[58] विश्वस्तर के बड़े पूँजीपति वर्ग ने अंग्रेज़ी को पूँजी और अर्थव्यवस्था की भाषा बना दिया है। वे इस धारणा का भी खण्डन करते हैं कि आधुनिक साहित्य का उत्थान मूलतः अंग्रेज़ी की प्रेरणा से हुआ है। 'आधुनिक साहित्य के मूल रचनात्मक तत्त्व हमारे जीवन से उत्पन्न हुए हैं और भारतीय हैं।'[59] परंतु आज अन्य भाषाओं की तुलना में अंग्रेज़ी का साहित्य पत्र–पत्रिकाएँ धड़ल्ले से बिक रहा है, उसके बड़े–बड़े प्रकाशक हैं, बाज़ार है। भले ही उसे पढ़ने वाला वर्ग आकार में अन्य भाषाओं के वर्ग की तुलना में छोटा है। उसका लोकप्रिय साहित्य फल–फूल रहा है। सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमों को अंग्रेज़ी में परोसा जा रहा है। संस्थाएँ 'अंग्रेज़ी' द्वारा ही चलाई जा रही हैं। देशी और विदेशी संस्कृतियों में टकराव दिखाई देता है। जिन्हें मजबूर होकर इन संस्थाओं का और अंग्रेज़ी का प्रभुत्व सहन करना पड़ता है। एक संस्कृति केन्द्र में है और दूसरी हाशिए पर। 'साम्राज्यवाद' की प्रक्रिया जो राष्ट्रीय संघर्षों को जन्म देती है उसी के कारण इस केंद्र और हाशिए का विभाजन भी होता है। कुछ राष्ट्रीय संस्कृतियाँ विकसित होकर अपना वर्चस्व कायम करती है। न्गुगी वा थ्योंगो 'विकासशील देशों की संस्कृति की समस्याओं को ग्रामीण और शहरी के बीच चल रहे संघर्षों के संदर्भ में देखते हैं। ... उपनिवेशों और नव उपनिवेशों के सांस्कृतिक स्तर पर दो संस्कृतियों का भीषण टकराव देखने को मिलता है। एक संस्कृति विदेशी साम्राज्यवादियों का प्रतिनिधित्व करती थी और दूसरी का संबंध राष्ट्रवादी और देशभक्त शक्तियों से

---

58 डॉ. रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ. 400–401.

59 वही, पृ. 405.

था।'[60] ... इस सांस्कृतिक टकराव के दौर से भारत राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में गुज़रा है और भारत ने अपनी व्यापक सांस्कृतिक संरचना का परिचय भी दिया है। परंतु वे समस्याएं पूरी तरह से हल नहीं हो पाईं क्योंकि वह दौर साम्राज्यवाद का अंत नहीं था। राष्ट्रों का उदय नव साम्राज्यवाद, नव उपनिवेशवाद के साथ हुआ। इसलिए न्गुगी लिखते हैं कि 'मेरी दृष्टि में संस्कृतियों का यह टकराव आज भी वास्तविक और बुनियादी है यानी साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष के फलस्वरूप विकसित और उस संघर्ष से ही चरित्र ग्रहण करने वाली राष्ट्रीय देशभक्तिपूर्ण संस्कृति की मौजूदगी। ग्रामीण और शहरी, आधुनिक और परम्परावादी ... इस टकराव में राष्ट्रीय संस्कृति अपनी जड़ें उन परम्पराओं में ढूँढने का प्रयास करती है जिन्हें अधिकांशतः किसान समुदाय ने अपने गीतों, कविताओं, थिऐटर और नृत्य में जीवित रखा है। इसके विपरीत विदेशी साम्राज्यवादी संस्कृति शहरों में अपने गढ़ बनाने का प्रयास करती है जहाँ वह खुद को आधुनिकता और प्रगति का प्रतीक बताती है।'[61] यह विभाजन 'भाषा' के माध्यम से किया जाता है। भाषा जो संस्कृति का सबसे सशक्त माध्यम है, उसका अंग है, वह इन प्रतीकों का निर्माण करती है।

यह संघर्ष विकसित–अविकसित, वर्चस्वशाली और दमित पहली दुनिया और तीसरी दुनिया, पूँजी को नियंत्रित करने वाले सत्ताधारी और वंचितों के बीच का संघर्ष है। संस्कृति और भाषा वह जरिया है जो एक वर्ग के लिए सत्ता स्थापित करने के माध्यम से है तो दूसरे वर्ग के लिए अपनी भाषा और संस्कृति को जीवित रखते हुए उसके विरुद्ध संघर्ष का माध्यम है। शोषक और शोषित का एक अन्य पक्ष भी है दलित और स्त्रियाँ – जो हाशिए पर रहते हुए भी इनसे संघर्षरत रहते हैं। अंत में डॉ. रामविलास शर्मा के शब्दों में इस वर्ग की भाषा के संदर्भ में जो भूमिका है – "बाह्य विरोध का सामना होने पर

---

60 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 94.

61 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 96.

समाज के उच्च वर्ग जल्दी कंधा डाल देते हैं, अपनी जातीय सम्पत्ति की रक्षा करती हैं स्त्रियाँ और निम्न वर्ग। बहुजातीय देश में राजकाज की भाषा की समस्या उठने पर विभिन्न प्रदेशों के पूँजीपति और सामंती विचारधारा के लोग आपस में झगड़े करते हैं, भाषा और जातीयता के अहंकार में चूर होकर गरीबों का गला कटवा देते हैं, मज़दूर वर्ग और जनसाधारण के अन्य वर्ग समानता, सहयोग और परस्पर सम्मान की नीति का अनुसरण करते हुए यह समस्या हल करते हैं। इस प्रकार भाषा के विकास में और भाषा संबंधी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने में भिन्न भिन्न जन अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार वर्ग नीति अपनाते हैं।"[62]

राष्ट्र की व्यापक अवधारणा विकसित की जानी चाहिए थी जो मिथ्या किस्म के राष्ट्रवाद को पनपने से रोके और देश के लोगों में भाषा, धर्म, संस्कृति, जाति आदि के संदर्भ में व्यापक धारणाओं का विकास करे।

---

62 डॉ. रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ. 445.

द्वितीय अध्याय : राष्ट्रवाद और नवजागरण

(i) नवजागरण ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पाश्चात्य संदर्भ

(ii) भारत में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का निर्माण

(iii) साम्प्रदायिकता और हिन्दी–उर्दू विवाद

(iv) अंग्रेज़ी भाषा व शिक्षा का प्रभाव

अध्याय – 2

राष्ट्रवाद और नवजागरण

(i) नवजागरण- ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और पाश्चात्य संदर्भ

19वीं सदी भारतीय समाज में वैचारिक उथल-पुथल और सुधारवादी प्रयासों की सदी थी। इस समय भारतीय समाज ने बंगाल से लेकर महाराष्ट्र और हिंदी क्षेत्र में जिस प्रकार से नवजागरणकालीन चेतना का विकास हुआ उसने अतीत, परंपरा और भविष्य सभी के प्रति बुनियादी सोच को झकझोर कर रख दिया। इस दौर में पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान का भारतीय मानस और चिंतन प्रक्रिया पर गहरा असर पड़ा। पश्चिमी और भारत के बीच के सांस्कृतिक-वैचारिक रिश्तों का निर्माण एक खास परिस्थिति और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बीच घटित हो रहा था और इसे औपनिवेशिक यथार्थ अपने ढंग से निर्धारित कर रहा था। यह भारतीय नवजागरण हिंदी प्रदेश, बंगाल और महाराष्ट्र में अपने को भिन्न-भिन्न रूप में अभिव्यक्त करता है। इस नवजागरण का स्वरूप भी 18 वीं सदी में आए योरोपीय नवजागरण से अपेक्षाकृत भिन्न था। इस भिन्नता के एक पक्ष के बारे में लिखते हुए बच्चन सिंह ने बताया,

''पश्चिमी नवजागरण अपने को मध्यकालीन चेतना से चर्च के चंगुल से मुक्त करता है। भारतीय नवजागरण अतीत से जुड़ा हुआ है, उससे बहुत कुछ ग्रहण करके आगे बढ़ता है। सच तो यह है कि अपने यहां अतीत, वर्तमान, भविष्य का विभाजन नहीं है। काल का सातत्य है। इस सातत्य में कांट, स्टुअर्ट मिल्स, स्पेंसर आदि के विचार वेद, उपनिषद, नववेदान्त आदि में घुलमिल गए हैं।''[1]

लेकिन भारतीय नवजागरण की चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक चले योरोपीय नवजागरण से इस आधार पर तुलना करना कि एक मे अतीत से जुड़ाव और दूसरे में चर्च की निरंकुशता के बहाने अतीत से विच्छन्नता को महत्व दिया गया, शायद सही नहीं होगा। हकीकत तो यह है कि योरोपीय नवजागरण में भी अतीत की वैचारिक-साहित्यिक प्रेरणाओं को सहेजने की प्रवृत्ति साफ तौर पर झलकती है। इटली के प्रसिद्ध कवि पेट्रार्क (1304-1374ई) और दांते (1256-1321ई) ने प्राचीन रोमन युग के प्रख्यात दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण की है। पेट्रार्क और दांते के समकालीन एक

---

1. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ-304

महत्वपूर्ण इटैलियन कवि बोकैसियो ने तो होमर के ग्रंथों का लैटिन में अनुवाद करने के लिए ही प्राचीन ग्रीक भाषा को सीखा। भारत के विभिन्न क्षेत्रों का नवजागरण योरोपीय पुनर्जागरण से सही मायने में अगर कहीं पर भिन्न है तो वह है धर्म के प्रति दृष्टिकोण को लेकर। भारत में नवजागरण धर्म की किसी केंद्रीकृत सत्ता से नहीं टकराता लेकिन धार्मिक कुरीतियों का विरोध करता है। योरोपीय पुनर्जागरण चर्च के रूप में एक विशाल केंद्रीय धार्मिक सत्ता से लड़ता है लेकिन ईसाइयत द्वारा समर्थित सामाजिक कुरीतियों से जूझना वहां मुख्य मकसद नहीं है। भारत का नवजागरण अगर अतीत के मोह और उसकी गौरवशाली स्मृतियों से बंधा नजर आता है तो उसका श्रेय भी प्राच्यविदों को दिया जाना चाहिए जिन्होंने अनेक वर्षों की मेहनत कर भारत के प्राचीन इतिहास को ढूंढ़ निकाला और उसे भारतीयों के सामने रखकर उन्हें अहसास दिलाया कि वर्तमान हीनता की तुलना में उनका अतीत कितना भव्य और महान था। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जून 1908 ई में एक लेख सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी में कुछ-कुछ इस बात की झलक दी है कि किसी प्रकार आरंभिक प्राच्यविदों में भाषा और संस्कृति की चुनौतियों से लड़ते हुए भारत के प्राचीन अतीत और साहित्य को खोज निकाला और उनकी यह खोज भारत के विभिन्न इलाकों में नवजागरण कालीन चेतना के विकास का सबब बनी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा,

''क्या हम लोगों में एक भी आदमी ऐसा है जो सर विलियम की आधी भी कठिनाई उठाकर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो। कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन खर्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फारसी और अंग्रेजी शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है।''[2]

---

2. महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रतिनिधि संकलन, पृ-109

महावीर प्रसाद द्विवेदी जिस चीज को रेखांकित करना चाह रहे थे वह यह थी कि भारत में नवजागरण के बौद्धिक स्रोतों के निर्माण में यूरोपीय प्राच्यविदों के काफी पसीना बहा है और इन बौद्धिक स्रोतों के निर्माण में भारतीयों की जिम्मेदारी कहीं अधिक महत्वपूर्ण और कहीं अधिक गंभीर है। वे स्वदेशी ज्ञान से जुड़ाव महसूस न करके निरर्थक आडंबरों के शिकार हो रहे हैं और इस प्रक्रिया में अपने पारंपरिक ज्ञान के बौद्धिक दोहन की आवश्यकता को न केवल नकार रहे हैं बल्कि इस आवश्यकता को पूरा करने के एक महत्वपूर्ण अवसर से भी हाथ धो रहे हैं। इस प्रकार नवजागरण के स्वरूप को समझते हुए नवजागरणकालीन चिंतक-विचारक नवजागरण के बौद्धिक पक्ष को केवल यूरोपीय विद्वानों तक सीमित रखने के स्थान पर इस क्षेत्र में एक बौद्धिक-वैचारिक स्वावलंबन को प्रोत्साहित करने का प्रयास कर रहे थे। यूरोप में जो पुनर्जागरण 14 वीं से 16 वीं सदी के मध्य आया था उसमें मानवतावाद का स्वर प्रमुख था। इन मानवतावादी विचारकों का मत था कि ईश्वर की बनाई सृष्टि के केंद्र में मानव है और चर्च, लालची पादरी एवं सामंत मनुष्य के खिलाफ तमाम तरह के षडयंत्र कर रहे हैं और मानव की जीवन दुष्कर कर वास्तव में ईश्वर का ही विरोध कर रहे हैं। इस दौरान मिशेल डी मांटेजन जैसे फ्रेंच विचारकों ने ईसाईयत को सर्वोच्च मानकर इससे जुड़े सिद्धांतों को अन्य संस्कृतियों-धर्मों पर थोपने का प्रबल विरोध किया। उन्होंने नैतिक और सामाजिक धारणाओं के क्षेत्र में सापेक्षिक सत्यता के विचार को काफी जोरदार ढंग से उठाया। पुनर्जागरण के दौर का संबंध वैचारिक क्रांति और परिवर्तन के साथ-साथ तकनीकी विकास से भी था। 1445 ई में गुटेनबर्ग ने प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार किया जिसके बारे में माना गया कि इस एक अविष्कार ने यूरोपीय जीवन को हमेशा के लिए बदल दिया। मध्ययुग में पुस्तकें हाथ से लिखकर तैयार होती थीं और लैटिन में ही लिखी जाती थीं। ये पुस्तकें काफी महंगी होती थीं और समाज के केवल संपन्न वर्ग तक ही पहुंच पाती थीं। प्रिंटिंग प्रेस के अविष्कार से शिक्षित मध्यवर्ग ने अपनी भाषाओं में पुस्तकों की मांग करना शुरू कर दिया। पुस्तकों के प्रकाशन के व्यवसाय में तेजी आने के साथ मानवतावादी विचार को भी नई गति मिली क्योंकि चर्च और ईसाइयत से अलग प्राचीन ग्रीस और रोमन साहित्य का भी प्रकाशन आरंभ हुआ।

इस प्राचीन ग्रीक-रोमन साहित्य एव दर्शन की किताबों में सरकार, सामाजिक दर्शन, कला, राज्य, नागरिक और जीवनशैली के बारे में जो विचार मौजूद थे उनकी ओर न केवल ध्यान दिया गया बल्कि चर्च के धार्मिक नियंत्रण से बौद्धिक मुक्ति के मार्ग में उन्हें एक विकल्प के तौर पर भी देखा जाने लगा। पुनर्जागरणकालीन इस समूची चेतना और सोच का असर स्थापत्य, पेंटिंग और संगीत के क्षेत्र में भी पड़ा जहां ईश्वर की आकृतियों के स्थान पर प्रकृति और मनुष्य की आकृतियों को महत्व मिलने लगा। भारत में भी 19वीं सदी के आरंभ में छपाई की मशीनों की स्थापना, प्राचीन लुप्त साहित्य की खोज और उनका पुस्तकों के रूप में प्रकाशन की व्यापक प्रक्रिया और प्रयास जारी थे। आगे चलकर 17वीं और 18वीं सदी के प्रबोधन काल पर इस पुनर्जागरण के दौर में विकसित चेतना का गहरा असर पड़ा और चर्च एव ईसाइयत के निरंकुश बंधन से मुक्त एक व्यापक समानता एवं सार्वजनिक कल्याण पर आधारित नागरिक समाज की कल्पना साकार हुई।

भारत में आया 19 वीं सदी का नवजागरण कुछ मामलों में यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन काल के समान था तो कई मामलों में उससे भिन्न भी था। भारत में यूरोप और भारत के नवजागरण को लेकर कई भ्रांतियां प्रचलित हैं। प्रगतिशील आलोचक मैनेजर पांडे लिखते हैं,

'आधुनिक हिंदी साहित्य के उदय और विकास को समझने के लिए नवजागरण की अवधारणा, भारतीय नवजागरण का स्वरूप, हिंदी नवजागरण की विशेषताएं और भारतीय नवजागरण से हिंदी नवजागरण का संबंध समझना बहुत आवश्यक है। कुछ लोग नवजागरण या पुनर्जागरण को यूरोप के समाज, संस्कृति और साहित्य की अवधारणा मानकर उसे भारतीय समाज, संस्कृति और साहित्य के इतिहास के लिए अनुपयोगी समझते हैं। ऐसे देशभक्त बाहरी ज्ञान को देशभक्ति का विरोधी समझकर शुद्ध भारतीयता की उपासना में डूबे रहते हैं। कुछ दूसरे लोग नवजागरण और पुनर्जागरण में शाब्दिक भेद करते हुए भक्ति आंदोलन को नवजागरण कहते हैं क्योंकि बीच का काल सुसुप्ति का है।'[3]

---

3. मैनेजर पांडे, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ- 189

आलोचक रामविलास शर्मा ने अपनी किताब 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में 19 वीं सदी में एक नहीं बल्कि दो नवजागरण की कल्पना की थी। पहला नवजागरण उनकी दृष्टि में 1857 ई का स्वाधीनता आंदोलन था और इसी के अगले चरण के रूप में भारतेंदु युग का नवजागरण था। भारत में इतिहास और परंपरा के अध्ययन की दृष्टि से भक्ति आंदोलन को भी साहित्य और सांस्कृतिक चेतना के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण युग माना जाता है। इस भक्ति आंदोलन और 19 वीं सदी के नवजागरण की तुलना और अंतर को स्पष्ट करते हुए मैनेजर पांडे लिखते हैं,

''भक्ति आंदोलन और 19वीं शता दी से आरंभ होने वाले नवजागरण का मुख्य अंतर यह है कि पहला जातीय निर्माण को व्यक्त करने वाला सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर सामंतवाद विरोधी तथा मानवतावादी है, दूसरा राष्ट्रीय स्वाधीनता का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोधी तथा सामंतवाद विरोधी है।'' [4]

नवजागरण का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य अगर भक्ति आंदोलन, भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के विस्तार और शिक्षित मध्यवर्ग के उदय के रूप में प्रकट हो रहा था तो इसका पाश्चात्य संदर्भ अंग्रेज, जर्मन और डच प्राच्यविदो के बौद्धिक प्रयत्नों एवं सुधारवाद व मानवतावाद की पश्चिमी धारणा से भारतीयों के परिचय के रूप में सामने आ रहा था। किसी भी प्रकार के नवजागरण की विशेषता होती है कि वह नए विचारों के प्रति खुलेपन को प्रोत्साहित करता है और पहले से चले आ रहे विचारों की सत्यता की खोज के लिए उनके आलोचनात्मक पुनर्मूल्यांकन को भी बौद्धिक समर्थन प्रदान करता है। इस दौर में परंपरा को आत्मसात इसलिए नहीं किया जाता कि परंपरा की रक्षा करनी है बल्कि परंपरा की शक्ति और उसकी विशिष्ट व्याख्या का प्रयोग परंपरा को बदलने में किया जाता है। परंपरा पर अंध निर्भरता का जन्म इसलिए भी होता है क्योंकि परंपरा की एक विकृत समझ समाज में पैदा कर दी जाती है। परंपरा और अतीत का उद्बोधन वर्तमान को अतीत के सांचे में ढालने के लिए नहीं बल्कि वर्तमान

---

4. वही, पृ- 190

की नए आदर्शों के अनुरूप पुनर्रचना करने में किया जाता है। राजा राममोहन राय ने 19वीं सदी में सती प्रथा का विरोध करने के लिए प्राचीन परंपरा और शास्त्रों का निषेध करने की बात नहीं कही बल्कि यह साबित किया कि स्त्रियों को उनके मृत पति के साथ चिता पर जलाना शास्त्र सम्मत नहीं है और अपने में शास्त्र विरोधी कृत्य भी है। राममोहन राय ने लिखा,

''जिस आत्मघात का सभी शास्त्रों और सभी जातियों में निषेध है, उसे समाप्त करने के प्रयास को देखकर वे ही लोग आश्चर्य कर सकते हैं जिनकी शास्त्रों में श्रद्धा नहीं है एवं जो स्त्रियों को आत्मघात करने के लिए उत्साहित करते हैं।''[5]

19 वीं सदी में पहली बार ऐसा होता है कि सभी चिंतक और लेखक भारत की प्रगति की चर्चा करने के दौरान यूरोप की सभ्यता और वहां के बदलावों का अनिवार्य रूप से हवाला देने लगते हैं। यूरोपीय सभ्यता से या तो प्रेरणा ग्रहण करने के स्वर सुनाई देते हैं या फिर उसकी तुलना में भारतीय संस्कृति की विशिष्टता को रेखांकित कर आत्मगौरव जगाने की चेष्टा की जाती है।

राममोहन राय ने लिखा,

''मेरा अध्ययन प्रायः यूरोप संबंधित घटनाओं एवं विषयों से संबद्ध था। अपनी गहरी पर्यवेक्षण शक्ति की सहायता से मैं वहां की परिस्थितियों को समझने में सफल हुआ। मैं इस विचार से अत्यधिक प्रभावित हुआ कि यूरोप में साहित्य-सृजन को उत्साहपूर्वक सराहा जाता है एवं ज्ञान का व्यापक ढंग से प्रचार-प्रसार किया जाता है।'' [6]

ऐसा नहीं है कि यूरोपीय सभ्यता से केवल वे प्रभावित हैं और भारत के साथ उसके तनावपूर्ण रिश्ते को समझते नहीं थे। अंग्रेजी राज अगर यूरोपीय सभ्यता का प्रतीक था तो उस अंग्रेजी राज की आलोचना के माध्यम से वे यूरोपीय देशों द्वारा उपनिवेशों की लूटपाट और उनकी बर्बादी की दास्तान

---

5. राजा राममोहन राय (सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, संपा- शंभूनाथ), पृ-50

6. वही, पृ- 49

का भी हवाले देने से वे नहीं चूकते थे। भारतेंदु कहते थे, ''देखो, जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है, वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैंड, फारस, जर्मनी और अमेरिका को जाती है।''[7]

पश्चिमी उपनिवेशवाद के भारतीय जनजीवन पर पड़ने वाले ध्वंसात्मक असर के बारे में कार्ल मार्क्स ने भी 1853 ई में विस्तार से लिखा था। मार्क्स ने भारतीय उद्योगधंधों के तहस नहस हो जाने के बारे में लिखा था, ''इस तरह की गरीबी व्यापार के इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गई। हिंदुस्तान के मैदानों में जुलाहों की हड्डियां बिछी पड़ी हैं।''[8]

लेकिन मार्क्स ने ब्रिटिश राज के भारत पर पड़ने वाले प्रभावों के विश्लेषण में उपनिवेशवाद की रचनात्मक भूमिका भी हवाला दिया। उन्होंने लिखा,

''यह सच है कि इंग्लैंड ने हिंदुस्तान में सामाजिक क्रांति निकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर की थी और बड़े मूर्खतापूर्ण ढंग की जोर जबरदस्ती करके काम किया था। परन्तु, प्रश्न यह नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में बिना एक बुनियादी क्रांति के मानवजाति अपने लक्ष्य पर पहुंच सकती थी? यदि नहीं तो मानना पड़ेगा कि इंग्लैंड ने चाहे जितने पाप किये हों, इस क्रांति को लाने में उसने इतिहास के एक अचेतन साधन का काम अवश्य किया है।''[9]

लेकिन भारत में अगर यूरोपीय सभ्यता के औपनिवेशिक स्वरूप की अगर आलोचना की जा रही थी तो अंग्रेजी राज के दौरान विभिन्न देशों के बीच प्रतियोगिता के उसूल की लोकप्रियता का भी हवाला दिया जा रहा था। उपनिवेशवाद को भारत प्रतियोगिता की मानसिकता अपना कर हरा सकता है और प्रतियोगिता के लिए अपने को सक्षम भी तभी किया जा सकता है जब उपनिवेशवाद द्वारा तैयार

---

7. भारतेंदु हरिशचंद्र, भारतेंदु समग्र (संपा- हेमंत शर्मा), पृ- 1013
8. कार्ल मार्क्स, भारत संबंधी लेख, पृ- 11
9. वही, पृ- 15

परिस्थतियों का अच्छी तरह से इस्तेमाल किया जाए। उपनिवेशवाद अगर पश्चिमी दुनिया में आए बदलावों का नतीजा था तो इसी उपनिवेशवाद का सकारात्मक इस्तेमाल करते हुए आत्मविकास की चेतना जगाने का काम भारत जैसे पूर्वी देशों के बौद्धिकों द्वारा किया जा रहा था। इसी प्रयास का एक पहलू यूरोप से प्रेरणा लेने में बाधक पांरपरिक विचारों और मानसिक आलस्य की तीखी निंदा करने के रूप में भी प्रकट होता था। बालकृष्ण भट्ट ने अपने लेख 'नए बात की चाह लोगों में क्यों होती है,' में लिखा है

''यूरोप इन दिनों नई ईजादों के छोर पर पहुंच रहा है जिसका फल प्रत्यक्ष है कि यूरोप इस समय सभ्यता का शिरोमणि और जगतीतल में सबों का अग्रगण्य है। हमारे हिंदुस्तानी बाप-दादों के नाम सती हो रहे हैं, परिवर्तन के नाम से चिढ़ते हैं, पाप समझते हैं, तब कौन आशा है कि ये भी कभी को उभड़ेंगे।''[10]

भारतीय नवजागरण के अतिरिक्त महिमामंडन की कोशिशें भी कम नहीं हुई हैं और इस महिमामंडन के लिए नवजागरण को पाश्चात्य प्रेरणा का परिणाम समझने के बजाय नवजागरण को पश्चिमी पुनर्जागरण के समांतर चलने वाली एक वास्तविकता बताने के प्रयास भी किए गए हैं।

रामविलास शर्मा ने अपनी किताब भारतीय नवजागरण और यूरोप में बताया है कि यूरोप का एनलाइटेनमेंट (प्रबोधन काल) औद्योगिक आंदोलन से पहले आया और उसने व्यापारिक पूंजीपति के विचारों और आकांक्षाओं को स्थापित करने का प्रयास किया। ये एनलाइटेनमेंट आंदोलन जर्मनी, ऑस्ट्रिया और रूस के सम्राटों के प्रच्छन्न समर्थन से संचालित था और इन सम्राटों से ''मिलती जुलती भूमिका भारत में अकबर की थी और वह एक शताब्दी पहले घटित हुई थी।''[11]

---

10. बालकृष्ण भट्ट, बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध (संपा- सत्यप्रकाश मिश्र), पृ- 47

11. रामविलास शर्मा, भारतीय नवजागरण और यूरोप, पृ-16

इसके अलावा रामविलास शर्मा ने यूरोपीय जनजागरण को प्रेरणा देने वाले विचारकों-लेखकों का याद करने के क्रम में शैली का विशेष तौर पर उल्लेख किया और शैली की काव्यात्मक प्रेरणा के पीछे प्राचीन भारतीय साहित्य खासकर उपनिषदों के असर को रेखांकित किया है। वे लिखते हैं,

''शैली के समय तक अंग्रेजी तथा यूरोप की अन्य भाषाओं में प्राचीन भारतीय साहित्य के अनेक अंश अनूदित हो चुके थे। 1819 ई तक जो सामग्री शोपेनहावर को सुलभ थी, वह शैली को भी सुलभ थी। शैली इस सामग्री से पूर्णतः अथवा अंशतः परिचित थे, यह देववाद का खंडन प्रमाणित करता है।'' [12]

देववाद का खंडन शैली की रचना है जिसमें उन्होंने एपिक्यूरस, लॉर्ड बेकन, न्यूटन, लॉक और ह्यूम जैसे दार्शनिकों का मत सामने रखकर उसके आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को कपोल कल्पना बताया है।

रामविलास शर्मा की ये प्रस्थापनाएं भारतीय दर्शन-साहित्य की शक्ति को उद्घाटित करती हैं, लेकिन यूरोपीय जागरण के पीछे इनकी आंशिक उपस्थिति को साबित करती हुई भी इनकी निर्णायक या दूरगामी भूमिका को उभार नहीं पातीं। सच तो यह है कि यूरोपीय जागरण के भारतीय स्रोतों की खोज महज एक बौद्धिक कवायद प्रतीत होती है जबकि भारतीय नवजागरण जिस औपनिवेशिक माहौल में घटित हो रहा था वहां यूरोपीय राजनीतिक-सामाजिक विचारों का असर केवल संबद्ध तथ्यों के संकलन या उनके विवरण का मुद्दा नहीं बल्कि एक सहज स्वाभाविक वास्तविकता का रूप में सामने आता है।

---

12. वही, पृ- 213

(ii) भारत में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का निर्माण

''भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जन्म ही बड़ा दुर्लभ है, सो मिला उस पर गुरू की कृपा और मेरी अनुकूलता। इतना सामान पाकर भी जो मनुष्य इस संसार-सागर के पार न जाय उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए। वही दशा इस मय हिंदुस्तान की है। अंगरेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय पर उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्यं और परमेश्वर का प्रकोप ही है। सास के अनुमोदन से एकांत रात में सूने रंगमहल में जाकर भी बहुत दिन से जिस प्रान से प्यारे परदेसी पति से मिलकर छाती ठंडी करने की इच्छा थी , उसका लाज से मुंह भी न देखें और बोलैं भी न, तो उसका अभाग्य ही है। वह तो कल फिर परदेश चला जाएगा। वैसे ही अंगरेजों के राज्य में भी हम कूएं के मेंढक, काठ के उल्लू, पिंजड़े के गंगाराम ही रहैं तो हमारी कमबख्त कमबख्ती फिर कमबख्ती है।'' [13]

हिंदी नवजागरण के प्रमुख लेखक भारतेंदु हरिशचंद्र ने ये बातें नवंबर 1884 ईसवी में बलिया के ददरी मेले में आर्यदेशोपकारिणी सभा नामक संगठन द्वारा आयोजित सम्मेलन में दिए भाषण में कही थीं। भारतेंदु के इस भाषण से दो बातें स्पष्ट तौर पर उभर के सामने आती हैं। पहली यह कि भारतेंदु भारत में एक नई राष्ट्रीय-सांस्कृति चेतना के निर्माण का स्वप्न देख रहे थे और इस स्वप्न को पूरा करने के लिए महज परंपराओं पर निर्भरता को अपर्याप्त मान रहे थे। दूसरा यह कि वे जिस राष्ट्रीय-सांस्कृति चेतना का निर्माण करना चाह रहे थे उसके लिए अंग्रेजी हुकूमत को बाधक नहीं बल्कि सहायक की भूमिका में देख रहे थे। इसीलिए वे मानते थे कि इससे पहले कि अंग्रेज वापस अपने देश में लौट जाएं हमें यानी पूरे भारत को उनके प्रशासन और राज का अपने हित में प्रयोग कर लेना चाहिए। 19 वीं सदी में चिंतन और व्यवहार के स्तर पर भारतीय समाज में जो दूरगामी बदलाव आ रहे थे उन बदलावों के केंद्र में ही यह चेतना काम कर रही थी कि भारतीय समाज में एक नई चेतना का संचार

.....

13. भारतेंदु हरिशचंद्र, भारतेंदु समग्र (संपा- हेमंत शर्मा), पृ-1011

करना है और वह चेतना एक तो राष्ट्रीयता की भावनाओं को पैदा करेगी और दूसरा परंपरा-संस्कृति के बारे में नए दृष्टिकोण को जन्म देकर सांस्कृतिक धरातल पर भी बदलाव के एक नए परिदृश्य को जन्म देगी। इसीलिए अपने बलिया वाले भाषण में, जिसे 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' नाम से संकलित किया गया, भारतेंदु ने एक ओर मतमतांतरों का आग्रह छोड़कर आपस में प्रेम बढ़ाने का आह्वान किया था तो दूसरी ओर यह भी लिखा,

''भाइयों, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरणकमल का भजन है। ये सब तो समाज धर्म हैं जो देशकाल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी खराबी यह हुई है कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप दादों का मतलब न समझकर बहुत से नए नए धर्म बनाकर शास्त्र में धर दिए। बस सभी तिथि ब्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बेर आंख खोलकर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनाई और उनसे देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हो उसको ग्रहण कीजिए बहुत सी बातें जो समाज विरुद्ध मानी हैं किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसे जहाज का सफर, विधवा विवाह आदि।..कुलीन प्रथा, बहुविवाह को दूर कीजिए।'' [14]

भारत में नई राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के निर्माण के अभियान में भारतेंदु अकेले नहीं थे बल्कि हिंदी नवजागरण के अन्य लेखकों के अलावा बंगाली और मराठी सुधारक और लेखक भी इसमें अपने-अपने ढंग से योगदान दे रहे थे। भारत की तत्कालीन दशा पर विचार करना, उसकी प्रगति में बाधक सामाजिक स्थितियों की ओर ध्यान आकृष्ट करना, अतीत की आलोचना के साथ-साथ उसे प्रेरणास्रोत के रूप में देखना और बदलाव के विभिन्न विकल्पों को बहस का विषय बनाना जैसी चिंताएं और प्रयास इस वक्त के लेखन में एक नई ऊर्जा का संचार कर रहे थे। एक प्रमुख हिंदी लेखक बालकृष्ण भट्ट ने सितंबर 1893 ई के हिंदी प्रदीप के अंक में लिखा,

---

14. वही, पृ- 1013

''निपट लंठ अब के ब्राह्मणों में शऊर और अकल कहां कि इतना सोचें कि हमारे धर्म के सिद्धांत और रीति-नीति पुरानी पड़ते-पड़ते घिनौनी हो गई है, सभ्य समाज के लोगों को सर्वथा अरोचक हो गई है। अब इसमें कुछ संशोधन और अदल-बदल करें जिसमें नयापन आ जाय और लोगों को पसंदीदा हो पर एक तो उनकी अकल नहीं, बज्र मूर्ख होते हैं, दूसरे स्वार्थ उनका इसमें बिगड़ता है अपनी थोड़ी से हानि के पीछे पुराने हिंदू धर्म को बात-बात में दक्षिणा पुजाने के कारण अत्यंत अश्रद्धेव और हंसने के लायक किए देते हैं।'' [15]

बालकृष्ण भट्ट ने धर्म और धार्मिक सिद्धांतों को बगैर आलोचना भाव से स्वीकार किए जाने की निंदा जिस तीखी भाषा में की है उसके बारे में रामचंद्र शुक्ल ने हिंदी साहित्य का इतिहास में लिखा है,

''बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी ही होती है जैसी खरी खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन पुरातन का वह संघर्ष काल था इसमें भट्ट जी को चिढ़ाने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी।''[16]

खरी-खरी सुनाने वाली भाषा का प्रयोग बालकृष्ण भट्ट एक खास मकसद से कर रहे थे और वह मकसद था उस सांस्कृतिक पिछड़ेपन से भारत को उबारना जो राष्ट्र के रूप में गठित हो रही भारत की नई अस्मिता के निर्माण में योगदान देना तो दूर बल्कि भारत की नई राष्ट्रीय अस्मिता को उभरने में अवरोधक की भूमिका निभाने की चेष्टा अधिक कर रहा था।

19 वीं सदी के दौरान केवल विचारों के स्तर पर नहीं बल्कि राजनीतिक और साहित्यिक सक्रियता के स्तर पर भी राष्ट्रीय संस्कृति के गठन के लिए समाज में हस्तक्षेप की आवश्यकता का अनुभव करके पत्र-पत्रिकाएं निकालना, सांगठनिक प्रयास करना और पश्चिमी जगत से आने वाले बौद्धिक विचारों को अपने अनुकूल ढालने के चहुंमुखी प्रयास किए जा रहे थे। हिंदी में इस दौरान कोलकाता,

---

15. बालकृष्ण भट्ट, बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध (संपा- सत्यप्रकाश मिश्र), पृ- 48
16. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ- 247

लखनऊ, कानपुर, वाराणसी, प्रयाग और लाहौर जैसे सभी प्रमुख बड़े नगरों से नई पत्रिकाएं निकल रही थीं जिनमें शुद्ध साहित्यिक रचनाएं तो छपती ही थीं और साथ ही समकालीन सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर भी वैचारिक उत्तेजना से भरे निबंध, लेख और संपादकीय टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं। रामचंद्र शुक्ल ने इन पत्रिकाओं के योगदान को याद करते हुए लिखा है,

''इनमें से अधिकांश पत्र पत्रिकाएं तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गईं पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहितसाधन और हिंदी की सेवा की।''[17]

नवजागरण के दौरान राष्ट्रीय-सांस्कृतिक सवालों के महत्वपूर्ण हो जाने के कारण राष्ट्र और संस्कृति के संबंध से जुड़े सवाल भी केंद्र में आ गए। संस्कृति को राष्ट्र के केंद्र में स्थापित करने के प्रयास में अनेक बार अतीत के नायक, कथानक और घटनाओं को नए परिप्रेक्ष्य में इस ढंग से उभारने की चेष्टा की गई। अतीत के नायकों और घटनाओं का यह नया परिप्रेक्ष्य राष्ट्र की धारणा को भी पीछे ले जाने यानी उन्हें प्राचीन और मध्यकाल की स्थितियों में भी देखे जाने की कल्पना को उकसा रहा था। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास और राधाचरण गोस्वामी ने अनेक ऐसी कृतियां लिखीं जिनके पात्र, घटनाएं, कथानक और संवाद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित थे। इन सभी लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अतीत की जो तस्वीर खींची उसके मुताबिक भारत अपनी वर्तमान हीन दशा की तुलना में अतीत में काफी समृद्ध और महान देश था। उसके पतन के जिम्मेदार वे लोग हैं जो भारत में बाहर से आए और यहां की आदर्श हिंदू संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने लगे। भारतेंदु ने अपने 1875 ई में लिखे नाटक भारत दुर्दशा में लिखा,

सबसे पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो
सबसे पहिले जेहि सभ्य विधाता किन्हो
सबसे पहिले जो रूप रस रंग भीनो

---

17. वही, पृ- 250

सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो

अब सबके पीछे सोई परत लखाई

हाहा, भारतदुर्दशा न देखी जाई। [18]

इसी प्रकार युद्ध क्षेत्र में भारतवासियों यानी हिंदुओं की वीरता का बड़े ही भावुकतापूर्ण ढंग से स्मरण करते हुए उन्होंने 1882 ई में अंग्रेजों की मिश्र पर जीत की खुशी में रचित कविता विजयिनी-विजय-पताका या वैजयंती में लिखा,

आय पंचनद, हा पानीपत

अजहुं रहे तुम धरनि बिराजत

हाय चितौर निलज तू भारी

अजहु खरो भारत। [19]

अतीत का भावुक स्मरण राष्ट्र की शाक्ति को ही उभारने के लिए किया जा रहा था। यह बताया जा रहा था कि भले ही भारत वर्तमान में कमजोर और गुलाम देश है लेकिन उसका अतीत हर प्रकार की हीनता और कमजोरी से मुक्त भव्य और महान था। इसलिए वर्तमान पराजय और अधीनता को देखकर हताश नहीं होना चाहिए बल्कि अतीत की प्रेरणा लेकर अपनी शक्ति को पुनरुज्जीवित करते हुए अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का पुनरुत्थान करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके लिए आत्मभर्त्सना की रणनीति का भी सहारा लिया। आत्मभर्त्सना की रणनीति जड़ संस्कारों और निष्क्रियता की मनःस्थिति को तोड़ने के लिए इस्तेमाल की गई और देशवासियों को उनका कर्तव्य याद दिलाने का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त आत्मभर्त्सना केवल निजी भावभंगिमा या मनोवैज्ञानिक बाध्यता न रहकर एक सामाजिक-राजनीतिक कार्य और गतिविधि का रूप ग्रहण कर लेती है। इस आत्मभर्त्सना

---

18 भारतेंदु हरिशचंद्र, वही, पृ- 460

19 वही, पृ- 252

की प्रक्रिया में अतीत की भव्य मूर्ति सामने रखकर लोगों को ललकारा गया कि वे उस अतीत के गौरव को फिर से अर्जित करने के अपने नैतिक और सामाजिक दायित्व को पूरा करने के प्रति गंभीर नहीं हैं और अनेक तरह की स्वभावगत कमजोरियों व पारंपरिक कुरीतियों की गिरफ्त में रहकर अपनी ताकत को न सिर्फ पहचानने से इनकार कर रहे हैं बल्कि उस ताकत को सदियों से लगातार नष्ट करते चले आ रहे हैं। भारतेंदु के भारतदुर्दशा नामक नाटक में भारत की शक्ति का क्षरण करने वाले निर्लज्जता, आलस्य, रोग और मदिरा जैसे खलपात्रों के षडयंत्र और दुष्टता का खुलासा किया गया और भारत के इनसे मुक्त होने के संघर्ष का उल्लेख किया गया।

एक विरोधाभास जिसकी ओर कम ध्यान दिया गया है वह यह था कि सांस्कृतिक स्तर पर भारत की ताकत को फिर से अर्जित करने के लिए गौरवशाली अतीत का उद्‌बोधन किया जाता था जबकि राजनीतिक स्तर पर राष्ट्रीय चेतना के निर्माण के लिए कई बार ब्रिटिश राज के अधीन निर्मित परिस्थतियों को लाभप्रद बताते हुए अतीत की आलोचना भी की गई। इसका सबसे बड़ा प्रमाण दादाभाई नैरोजी द्वारा बतौर कांग्रेस अध्यक्ष के 1893 ई में दिया गया भाषण है जिसमें उन्होंने महारानी विक्टोरिया और इंग्लैंड के सभ्य पुरुषों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जिनकी वजह से लोग बेरोकटोक जमा होकर, स्वतंत्रता के साथ अपने मन की बातें निर्भय और निर्बाध रूप से प्रकाशित कर सकते हैं। उन्होंने कांग्रेस जैसे संगठन को भी वर्तमान परिस्थतियों की उपज बताते हुए कहा,

''कांग्रेस का संगठन भारतीय इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। मैं आप लोगों से पूछता हूं कि हिंदू साम्राज्य के उन गौरवमय दिनों में जब विक्रम जैसे राजाओं का यहां शासन था, भिन्न-भिन्न श्रेणी के हिंदुओं का क्या ऐसा जमाव संभव था? क्या सब लोग एक राष्ट्र की भांति सम्मिलित स्वर में किसी विषय पर बोलने को तैयार हो सकते थे? इसके बाद मुसलमानी अमलदारी में-औरों की तो बात ही जाने दीजिए, बादशाह अकबर के ही राज्यकाल में-इस तरह

की एक सभा क्या होनी संभव थी, जहां सभी जातियों और श्रेणियों के लोग एक भाषा में और एक तरह की आशाओं और आकांक्षाओं से प्रेरित होकर अपने मनोभाव प्रकाशित करें।'' [20]

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के निर्माण की प्रक्रिया जातीयता के गठन और इससे जुड़े भाषा संबंधी सवालों से भी संबद्ध थी। जातीयता के गठन के लिए यह अनिवार्य होता है कि देशज संस्कृति और विशेषताओं को साहित्यिक विमर्श के केंद्र में स्थापित किया जाए। यह काम आधुनिक साहित्य के प्रस्थान बिंदु के रूप में देखे जाने वाले भारतेंदु युग ने किस प्रकार किया इसकी ओर इशारा करते हुए रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है,

''उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूप के साथ पूरा पूरा बना हुआ था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़ने वाले त्यौहारों उनके मन में उमंग उठाते, परंपरा से चले आते हुए आमोद प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न नहीं था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आंखों में उतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।'' [21]

यहां विदेशी अंधड़ों से अप्रभावित रहने और देश के रूप रंग पर ध्यान देने के लिए इस युग के लेखन की तारीफ ध्यान देने लायक है। इसका रिश्ता न केवल अपनी सांस्कृतिक-जातीय अस्मिता के गठन में योगदान देने बल्कि इसे एक आत्मचेतस बैद्धिक कर्म से भी था।

महत्वपूर्ण बंगाली लेखक बंकिमचंद्र ने स्वजाति प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता का मूल्य पहचानने की चेतना के विकास के लिए अंग्रेजों की भूमिका को याद किया। उन्होंने अंग्रेजों को भारत पर परम उपकार करने वाला बताया और अंग्रेजों के साथ-साथ इटली और जर्मनी से भी स्वजाति की प्रतिष्ठा के लिए

---

20. दादाभाई नैरोजी, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज (संपा- शंभूनाथ), पृ 758

21. रामचंद्र शुक्ल, वही पृ- 248

प्रयास करने की प्रेरणा प्राप्त करने को कहा। अंग्रेजों से प्राप्त होने वाली दो अमूल्य शिक्षाओं का उन्होंने विशेष तौर पर उल्लेख किया। पहली शिक्षा थी स्वातंत्र्य प्रियता और दूसरी जाति प्रतिष्ठा। बंकिम के अनुसार अंग्रेजों के आने से पहले, **''ये चीजें क्या होती हैं इसे हिंदू नहीं जानता था।''** [22]

बंकिम ने एक ओर अंग्रेजों के कारण निर्मित स्थितियों के कारण राष्ट्रीयता के विकास की प्रक्रिया के बारे में बताया वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति के केंद्र में केवल हिंदू जातीयता और पहचान को स्थापित कर राष्ट्र-संस्कृति की अवधारणा की संकीर्ण व्याख्या भी की। भारत जैसे बहुजातीय, बहुधर्मी और बहुभाषी मुल्क में राष्ट्र-संस्कृति की व्याख्या को भी अधिक व्यापक और समावेशी होना चाहिए और बंकिम जैसे लेखक इस आवश्यकता को ठीक से पहचान नहीं सके। धर्म और राष्ट्र का यह गठजोड़ भारतीय अतीत की एकांगी व्याख्या तो करता ही था, साथ ही भारत के भविष्य का भी धार्मिक अलगाव के आधार पर गठन की परिकल्पना को प्रस्तुत करता था। बंकिम और अन्य लेखक जो हिंदू आचार-संस्कृति और इतिहास के नजरिए से राष्ट्र को परिभाषित् करने का प्रयास कर रहे थे वे राष्ट्र के सामने खड़े होने वाले संकटों को भी एक खास धर्म के अनुयायियों या उस धर्म के अस्तित्व का संकट बताने लग जाते थे। संकट को सामूहिक समस्या के रूप में न पहचान कर उसे धर्मविशेष की समस्या बनाकर पेश करना राष्ट्रीयता की भावना के गठन को उस दिशा में ले जा रहा था जहां राष्ट्रीय गौरव और समृद्धि में सभी धर्म-संस्कृतियों के योगदान को न तो पहचाना जा सके और न सभी धर्म-संस्कृतियां राष्ट्रीय गौरव से एक जैसा लगाव और प्रेरणा को महसूस कर सकें। इसके अलावा राष्ट्र के लिए 19 वीं सदी में एक खास मर्दाना विमर्श भी तैयार हो रहा था जिसमें बात तो संस्कृति की होती थी लेकिन पुरुषों के अधीन राष्ट्र के संचालन और पुनर्निमाण की बातें दोहराई जाती थीं। बंकिम की मानना था कि

'इतिहास में केवल दो बार हिंदू समाज में जाति प्रतिष्ठा का उद्यम हुआ है।' [23]

---

22. बंकिम चंद्र, प्रतनिधि निबंध (संपा- अमित्र सूदन भट्टाचार्य), पृ-21
23. वही, पृ- 21

यह दो अवसर महाराष्ट्र में शिवाजी और पंजाब में रणजीत सिंह से शासन के दौरान उपस्थित हुए। जाहिर है कि राष्ट्र के विगत गौरव की स्मृतियों के केंद्र में पुरुष नायक रहते थे और पुरुषों को ही राष्ट्र की आगे भी जिम्मेदारी संभालने के लिए तत्पर रहने का आह्वान किया जाता था। इस किस्म से राष्ट्रवाद के गठन का सुधारवाद से बड़ा ही तनावपूर्ण और असहमति का रिश्ता था। इस राष्ट्रवाद ने हिंदू परिवार-संस्कृति के क्षेत्र में अंग्रेजी कानूनों के द्वारा सुधारों का विरोध किया और इसका सबसे बड़ा उदाहरण 1891 ई में महाराष्ट्र के नेता बाल गंगाधर तिलक द्वारा ऐज़ ऑफ कन्सेंट बिल का विरोध था जिसमें स्त्रियों के साथ सहवास की न्यूनतम उम्र 10 की जगह 12 वर्ष करने का प्रस्ताव किया गया। यह अजीब बात ही थी एक ओर इस समय के लगभग सभी महत्वपूर्ण लेखक-विचारक अंग्रेजी राज की तारीफ करते नहीं थकते थे लेकिन दूसरी ओर परिवार-संस्कृति में अंग्रेजी कानूनों के माध्यम से परिवर्तन का डटकर विरोध करते थे। इस दोहरे मापदंड पर उस समय सबसे तीखा प्रहार मराठी लेखिका ताराबाई शिंदे ने 1882 ई में लिखी अपनी पुस्तक स्त्री-पुरुष तुलना में किया। ताराबाई शिंदे ने राष्ट्रवाद और सुधारवाद के बीच कृत्रिम और स्त्रीविरोधी द्वंद्व को गलत ठहराते हुए लिखा कि सभी पुरुषों ने जीवनशैली और उपभोग के मामलों में अंग्रजों की जमकर नकल की है लेकिन धर्म में अंग्रेजों के हस्तक्षेप से बौखला उठते हैं। ताराबाई शिंदे ने सुधारवाद के विरोध करने वाले राष्ट्रवादी लेखकों की आलोचना करते हुआ लिखा, ''अंग्रेजों और तुम्हारे धर्म के बीच अब फर्क बचा ही क्या है? सिवाय अपनी जाति से बाहर विवाह न करने के। अंग्रेजों की कौन-सी प्रथा है, जिसकी नकल भारतीय पुरुषों ने नहीं की।''[24]

धर्म के मामलों में अंग्रेजों के योगदान की सराहना करते हुए ताराबाई शिंदे ने यह भी लिखा, ''ऐसे अद्‌भुत चमत्कारी सरकार ने यदि तुम्हारे धर्म में हस्तक्षेप न करके तुम्हारी अबलाओं को सबला नहीं बनाया होता तो वह कार्य दूसरा कौन कर सकता था।?''[25]

---

24. ताराबाई शिंदे, स्त्री-पुरुष तुलना, पृ 56 पर उद्‌धृत
25. वही, पृ- 31

राष्ट्र-संस्कृति के निर्माण को लेकर पुरुष सवर्ण लेखकों और स्त्रियों के नजरिए में ही नहीं बल्कि सवर्ण और दलित के नजरिए में भी भारी मतभेद था। इस मतभेद की सबसे विश्वसनीय झलक मराठी लेखक जोतिबा फुले (1827-1890) की रचनाओं में मिलती है जिसमें उन्होंने न केवल दलित और शूद्रों के ऊपर होने वाले ब्राह्मणों के अत्याचार के संबंध में अतीत और वर्तमान की व्याख्या की बल्कि समूची सवर्ण ज्ञान परंपरा को भी शूद्रों को अज्ञानी बताने और ब्राह्मणों की महत्ता का अतिरंजित वर्णन करने के रूप में देखा। 1873 ई में लिखी अपनी किताब गुलामगीरी की प्रस्तावना की शुरुआत में ही उन्होंने लिखा,

''आज सैकड़ों वर्षों से भारत में दलित व पीड़ित शूद्र-अतिशूद्र आदि ब्राह्मण वर्ग के अधीन होकर नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रहे हैं। इस बात पर विचार करते हुए हमें आगे इस निर्णय पर भी पहुंचने की आवश्यकता है कि इन नाना प्रकार के कष्टों से दलित व पीड़ित वर्ग को किस प्रकार छुटकारा दिलाया जाए।'' [26]

इस प्रकार राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण के प्रयास भिन्न-भिन्न नजरियों से किए जा रहे थे। कहीं अतीत की प्रेरणा महत्वपूर्ण थी तो कहीं अतीत की आलोचना और खंडन। कहीं अतीत की तर्ज पर राष्ट्रीय गौरव की स्थापना का सवाल केंद्र में था तो कहीं नए उभरते राष्ट्र के केंद्र में सुधार और बदलाव को अधिक महत्वपूर्ण जरूरत के रूप में स्थापित करने की चेष्टा। नजरियों की यह विविधता उस देश में चौंकाने वाली नहीं बल्कि स्वाभाविक थी जहां न केवल सांस्कृतिक विविधता थी बल्कि वर्ण, लिंग, धर्म और वर्ग से जुड़े हितों के स्तर पर लोगों के बीच भारी खाई मौजूद थी।

---

26. जोतिबा फुले, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज, पृ-769

(iii) सांप्रदायिकता और हिंदी-उर्दू विवाद

जातीयता का गठन जब धर्म के बगैर होता है, धर्मनिरपेक्ष मानकों के आधार पर, जैसे भाषा, भौगोलिक विशेषता या साझी संस्कृति के आधार पर तब जातीयता और सांप्रदायिकता के बीच रिश्ते पनपते नहीं हैं, बल्कि कमजोर होते हैं। लेकिन कई बार जातीयता के गठन के भाषा जैसे धर्मनिरपेक्ष मानक भी धर्म-मज़हब के वर्चस्व की लड़ाई के शिकार हो जाते हैं और इस लड़ाई में जीत हासिल करने के औज़ार और हथियार के रूप में इस्तेमाल किए जाने लगते हैं। 19 वीं सदी में हिंदी और उर्दू के साथ भी कुछ ऐसा ही सलूक हुआ जहां भाषा एक ओर अनेक बोलियों में बँटे जनसमुदायों को जोड़कर एक राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक बनी वहीं भाषा और धर्म के बीच भावुकतापूर्ण संबंध कायम करने वाले लोग भाषा के आधार पर सामाजिक अलगाववाद को जाने-अनजाने प्रोत्साहन देने लगे। मुसलमानों ने अरबी- फारसी शब्दों के संयोग से बनी उर्दू को अपनी परंपरा से चली आ रही सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप् में देखा तो हिंदू लेखकों ने नागरी और हिंदी की मांग को जिस ढंग से उठाया उससे यह मांग जनतांत्रिक होते हुए भी सांप्रदायिक चेतना के विस्तार में अपनी भूमिका अदा करने लगी। 19वीं सदी के उत्तरार्ध को भले ही आधुनिकता के आरंभ का काल मान लिया जाए लेकिन सच यह था कि इस समय धार्मिक दृष्टिकोण और पदावली में ही अनेक समस्याओं को देखा जाता था और इस वजह से भाषा भी इस सामान्य प्रवृत्ति की शिकार हुई। भारतेंदु युगीन लेखन में व्यापक पैमाने पर हिंदी के सवाल को हिंदुओं की शक्ति और प्रतिष्ठा के सवाल से जोड़कर देखा और उर्दू को लताड़ने का मतलब हो गया परोक्ष रूप से मुसलमानों की निंदा और उनकी ताकत कम करने के प्रयास में हाथ बटाना। इसके अलावा उर्दू की तुलना में हिंदी और नागरी को ज्यादा आधुनिक और समाजोपयोग बताने के प्रयास भी किए गए। प्रतापनारायण मिश्र के निबंध 'उरदू बीबी की पूंजी' में उर्दू की एक बनाव श्रृंगार करने वाली वेश्या से तुलना की गई जो वास्तव में दरिद्र होती है। उन्होंने उर्दू को मुस्लिम संस्कृति से जोड़कर देखते हुए लिखा,

''माशूक के रूप, मुख, नेत्र, केशादि की प्रशंसा, अपनी सर्वज्ञता का घमंड, उसे गुल और शमअ अर्थात मोमबत्ती एवं अपने को बुलबुल और पर्वाना अर्थात पतंग से उपमा दे दिया करो, रकीब इत्यादि पर जल-जल कर गाली दिया करो, बस उर्दू के सर्वस्व आपको मिल जाएगा। चाहे गद्य हो चाहे पद्य हो, चाहे कविता हो चाहे नाटक हो, चाहे अखबार हो चाहे उपदेश हो, सब में यह बातें भरी हैं। यदि और कोई विद्या का विषय लिखना हो तो संस्कृत, बंगला, नागरी, अरबी, फारसी, अंगरेजी की शरण लीजिए। इन बीबी के यहां अधिक गुंजायश नहीं है।'' [27]

प्रतापनारायण मिश्र के अलावा बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, राधाचरण गोस्वामी और भारतेंदु हरिशचंद्र के लेखन में हिंदी-नागरी की तुलना में उर्दू को नीचा दिखाने और उसकी निंदा करने के बड़े पैमाने पर प्रयास किए गए। भारतेंदु की जून 1874 ई में हरिशचंद्र चन्द्रिका पत्रिका में प्रकाशित रचना उर्दू का स्यापा में उर्दू का उपहास उड़ाया गया और लिखा गया,

''हम देखते हैं कि अभी साढ़े तीन हाथ की ऊंटनी-सी बीबी उर्दू पागुर करके जीती है।'' [28]

उर्दू के विरोध का एक तरीका यह था कि सीधे इसकी निंदा की जाए। लेकिन उर्दू के प्रति एक ज्यादा बड़ी नफरत का इज़हार इसके असर से हिंदी को मुक्त करने की चेष्टा और आह्वान के रूप में भी सामने आ रहा था। बालकृष्ण भट्ट ने अपने जून 1885 ई में लिखे लेख 'भाषाओं का परिवर्तन' में हिंदू और मुस्लिम संस्कृति के मेलजोल को अफसोस के साथ याद करने के अलावा भाषा पर भी उर्दू-फारसी के रूप में असर पर चिंता जाहिर की। उन्होंने लिखा,

''मुसलमानों के अत्याचार का फल जैसा हम सब अपनी रीति-रसम सामाजिक व्यवहार अपनी और अपने यहां की स्त्रियों की दशा में सब पाते हैं, तब यह क्यों कर हो सकता है कि मुगलों की भाषा का असर हमारी भाषा में न हो।''[29]

---

27. प्रताप नारायण मिश्र, प्रतापनारायण ग्रंथावली (संपा-विजयशंकर मल्ल), पृ-95
28भारतेंदु हरिशचंद्र, भारतेंदु समग्र (संपा- हेमंत शर्मा), पृ-209
29.बालकृष्ण भट्ट, बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध (संपा- सत्यप्रकाश मिश्र), पृ- 8

बालकृष्ण भट्ट के दो अन्य लेख 'कर्तव्यपरायणता' और 'महाभारत के समय का महाभारत' में भी भाषायी आदान-प्रदान की सहज ऐतिहासिक प्रक्रिया को बड़े ही नकारात्मक भाव से याद किया गया और इसे हिंदुओं के अहित और विरोध में बताया गया। इतिहास के माध्यम से विरासत में मिली धार्मिक मेलजोल की संस्कृति की प्रशंसा करने या उसे बढ़ावा देने के स्थान पर उसके प्रति तिरस्कार और निंदा की भावना को भड़काया गया। साझी संस्कृति की धारणा की आलोचना करने के लिए साझी संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया में हिंदुओं को होने वाले नुकसान और मुसलमानों के लाभ में रहने के तर्क को उछाला गया।

'कर्तव्यपरायणता' निबंध में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा,

''जब से मुसलमान यहां के जेता हुए उस समय से हम उनकी चाल ढाल; नशिस्त बरखास्त के कायदे न केवल उनकी अरबी-फारसी तथा उर्दू भाषा वरन् दीन इसलाम को अब तक अपनियाते आये आर्य से अर्द्ध यवन हो गये; यहां लौ कि मुसलमानों को अपना अंग बना लिया।'' [30]

भाषा के स्तर पर प्रकट होने वाला सांस्कृतिक शुद्धता का आग्रह अतीत के सवालों को भी बड़े ही काल्पनिक ढंग से उठाता था। इसमें इतिहास को उसके वास्तविक रूप में समझने की जगह 19वीं सदी के उत्तरार्ध में पनपी ऐतिहासिक स्थितियों के अनुरूप उसे ढालने और समझने की कोशिश की जाती थी। इसमें यह मान लिया गया कि गौरवशाली आर्य संस्कृति को फिर से तभी स्थापित किया जा सकता है जब उस पर प्रभाव डालने वाले विजातीय संस्कृति के असर को मिटा दिया जाए। बालकृष्ण भट्ट ने आर्यों के पतन का अवैज्ञानिक और अन-ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए लिखा,

''मुसलमानों के हमलों के उपरान्त जित जाति हो जाने से वह जोश और गरमी इनसे निकल

---

30. वही, पृ 87

गई। दूसरी जाति वालों को अपने में क्या मिलाएंगे। ये खुद दूसरों का मजहब कबूल कर अन्य जाति वाले होते जाते हैं।..मुसलमानों के राजत्व काल में जो ग्रंथ बने अथवा जो राति या क्रम अपने लोगों में प्रचलित किया गया सब त्याज्य है। उन ग्रन्थों का मानने या उन रीति या क्रम के अनुसार चलने से हम स्वराज्य के दूय कभी नहीं होंगे।'' [31]

उर्दू के असर से हिंदी को मुक्त करने की चेष्टा इस्लामिक संस्कृति से हिंदू धर्म को बचाने की राजनीतिक मानसिकता से जुड़ी हुई थी। ऐसे में यह सवाल उठना लाजिमी है कि हिंदुओं ने बहुसंख्यक समुदाय होते हुए भी हिंदी और नागरी से जुड़े प्रश्नों को क्यों सांप्रदायिक और मुस्लिम विरोधी रंग देने की कोशिश की। क्यों हिंदी-नागरी को अदालतों की भाषा कौं दर्जा दिलाने के प्रयास में उसे उर्दू से लड़ाना अनिवार्य होता चला गया। इस सवाल का उत्तर देने की कोशिश में वीरभारत तलवार ने बताया है कि उपनिवेशवाद में राज्य और प्रशासन के सामने अपनी राजनीतिक ताकत को प्रभावी ढंग से पेश करने और सौदेबाजी को ज्यादा तर्कसंगत बनाने के लिए वह समान धर्मानुयायियों का समुदाय निर्मित करने की चेष्टा की जाती थी। इसके लिए कई बार जायज और जनतांत्रिक मांगों को भी धार्मिक -सांप्रदायिक मुद्दे की तरह उछाला जाता था। इससे एक ओर उस मुस्लिम भद्रवर्ग के वर्चस्व को कमजोर करने में मदद मिलती थी जो हिंदुओं की तुलना में सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में आगे थे और दूसरे हिंदुओं में ही सवर्ण हिंदुओं के वर्चस्व को नई परिस्थतियों के तहत ज्यादा मजबूत बनाया जा सकता था।

इसके प्रमाण में तलवार ने उन धार्मिक संगठनों का हवाला दिया है जिन्होंने हिंदी और नागरी की मांग को उठाया। उन्होंने लिखा,

''पश्चिमोत्तर प्रांत में हिंदी या नागरी का प्रचार करने वाली धर्मनिरपेक्ष संस्थाएं बहुत कम बनीं।

---

31. वही, पृ-165

इनका प्रचार और आंदोलन ज्यादातर धार्मिक और अर्द्ध धार्मिक संगठनों के जरिए चलाया गया। जो दो-तीन धर्मनिरपेक्ष संस्थाएं बनीं-जैसे काशी नागरी प्रचारिणी सभा या प्रयाग हिंदी साहित्य सम्मेलन-उनका दृष्टिकोण भी हिंदूवाद से प्रभावित रहा।.. हिंदी आंदोलन के लिए धार्मिक संगठनों की ओर देखने की प्रवृत्ति एक आम बात थी।..आर्य समाज (1875), प्रयाग हिंदू समाज (1880), प्रतिनिधि मध्य भारत सभा (1884) और श्री भारतधर्म महामंडल (1887) ऐसे ही धार्मिक संगठन थे जिन्होंने हिंदी और नागरी की लड़ाई हिंदुओं को मजबूत बनाने और संगठित करने के लिए लड़ी थी।''[32]

ऐसा नहीं है कि तत्कालीन लेखक इस तथ्य से सर्वथा अनजान थे कि भाषा और मजहब के बीच रिश्ता, कम से कम पश्चिमोत्तर प्रांत में इतना सीधा और सरल नहीं होता जितना उसे बनाकर पेश किया जा रहा था। अनेक लेखकों ने हिंदी-हिंदू और उर्दू-मुसलमान के बीच के सीधे संबंध और समीकरण के खिलाफ भी अपने तर्क दिए और उर्दू को हिंदी से अलगाने की कोशिश को तर्क और इतिहास की दृष्टि से निराधर बताया। बालमुकुंद गुप्त ने अपने लेख 'नागरी अक्षर' में लिखा

''मुसलमानों के जितने अखबार हैं सब इस विषय को मजहबी रंग में रंगकर इसे उर्दू-हिंदी की लड़ाई बता रहे हैं। यदि इस विषय को लेकर हिंदू-मुसलमान के मेल में कुछ झमेल पड़े तो अच्छी बात नहीं।''[33]

बालमुकुंद गुप्त ने अपने इस लेख में भाषा को लेकर हिंदुओं और मुसलमानों में बढ़ती दूरी पर अपनी चिंता प्रकट तो की ही साथ ही मुसलमानों को यह समझाना चाहा कि उर्दू और हिंदी अलग-अलग नहीं हैं। उन्होंने लिखा,

''मुसलमानों को यह जानना चाहिए कि जिस भाषा को वह उर्दू कह रहे हैं, वह हिंदी से अलग

---

32 वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृ-327-328

33. बालमुकुंद गुप्त, बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली (संपा- नत्थन सिंह), पृ- 7

नहीं है। उर्दू के आदि कवियों ने उस भाषा को हिन्दवी कहकर पुकारा है। हिंदी को आप लोग जबर्दस्ती फारसी अक्षरों में लिखने लगे थे, जिनमें वह ठीक से लिखी भी नहीं जा सकती। इसी से शुद्ध हिंदी को आप लोगों ने अपने अक्षरों के अनुसार तोड़फोड़ डाला है।''[34]

बालुमुकंद गुप्त के लेख में निहित यह विचार तत्कालीन परिस्थितियों में लेखकों के बीच मौजूद अंतर्विरोध को ही ज्यादा अच्छी तरह से पेश करते हैं। एक ओर वे उर्दू-हिंदी के संघर्ष को सांप्रदायिक रंग देते हैं और दूसरी ओर भाषा से जुड़े प्रश्नों के सांप्रदायीकरण के खतरों से भी सचेत रहने की सलाह देते हैं। वे उर्दू को हिंदी से अलग करके देखने की चेष्टा को गलत ठहराते हैं लेकिन उर्दू भाषा के प्रति उनके मन में सम्मान होना तो दूर उसे वे कई तरह से खलनायिका और कृत्रिम भाषा बताने से भी नहीं चूकते हैं। उन्होंने उर्दू को हिंदी का ही अंग भले मान लिया हो लेकिन उर्दू के ऊपर सबसे गंभीर आरोपों में से एक आरोप उन्होंने यह भी लगाया कि उर्दू ने हिंदी से ही श द लिए लेकिन उन श--ब्दों की शुद्धता भंग करके उन्हें मनमाने ढंग से तोड़-फोड़ दिया है। इसका उदाहरण देने के लिए उन्होंने प्रसाद को परसाद, समुद्र को समन्दर, हरिद्वार का हरदवार और वृंदावन को वन्दरावन बनाए जाने की बात कही। लेकिन भाषा के बारे में यह विशुद्धतावादी आग्रह आश्चर्यजनक ही कहलाएगा क्योंकि खुद हिंदी ने संस्कृत के अनेक शेदों को ज्यों का त्यों नहीं लिया है बल्कि उनमें अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। भले ही हिंदी नवजागरण के अनेक लेखकों ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी को मान्यता दिलाने या शिक्षित समाज मे उसके प्रयोग को व्यापक बनाने में एड़ी चोटी का जोर लगा दिया हो लेकिन सच तो यह था कि हिंदी को न तो उर्दू से पूरी तरह अलग किया जा सका और न लोकभाषाओं के असर से उसी पूरी तरह बचाया जा सका। कठिन और संस्कृत निष्ठ गद्य लिखने वाले लेखकों की भाषा में भी अवधी, ब्रज जैसी भाषाओं के शेद और मुहावरे मिल जाते थे। उर्दू और हिंदी के झगड़े में केवल मुसलमानों

---

34. वही, पृ-7

को ही हिंदी विरोधी या हिंदुओं का दुश्मन नहीं बनाया गया बल्कि कायस्थ और कश्मीरी पंडित भी आलोचना और धार्मिक प्रहारों के निशाने पर आ गए। हिंदी और नागरी का आंदोलन चलाने वाले लेखकों की निगाह में कायस्थों और कश्मीरी पंडितों की गलती यह थी कि वे हिंदू होते हुए भी उर्दू भाषा और फारसी लिपि का इस्तेमाल करते थे और सरकारी नौकरियों के लालच में इन्हें छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। इन लोगों के भाषा ज्ञान पर संदेह जाहिर करके अक्सर ही इनका उपहास उड़ाया जाता था और इन्हें हिंदू एकता के मार्ग में बाधक बनाकर पेश किया जाता था। बालकृष्ण भट्ट ने अपने 1 जुलाई 1885 ई में हिंदी प्रदीप में प्रकाशित लेख ग्रामीण भाषा में कायस्थों के लिए 'कौवा चले हंस की चाल अपनी भी भूल गया' वाली कहावत का इस्तेमाल किया था। उन्होंने लिखा था,

''इन दिनों कोई-कोई कायस्थ महाशय कुछ लोगों से तो अपनी जन्मभूमि की भाषा बोलते हैं पर बाहर दूसरे लोगों से कुछ और भी चीज़ बोलते हैं और विचित्र भद्दे फारसी शैद्ध मिली उर्दू बोलते हैं जिस पर उन लोगों से जिनकी निज की भाषा उर्दू है बिना हंसे नहीं रहा जाता।''[35]

कायस्थों को उर्दू से दूर रखने के लिए उनके उर्दू ज्ञान पर संदेह जाहिर करने के अलावा उर्दू भाषी हिंदुओं को हिंदू संस्कृति से अलग होकर मुस्लिम संस्कृति के करीब हो जाने के लिए भी काफी खरी खोटी सुनाई गई। कश्मीर ब्राह्मणों की आलोचना करते हुए बालमुकुंद गुप्त ने लिखा,

''कायस्थ साहबों से दूसरा दर्जा हिंदी के विरोधियों में कश्मीरी पंडत साहबों का है। ये भले मानस भी नागरी अक्षरों को भी भैंसा का सींग समझते हैं। इनके बड़े पंडित थे परंतु ये पंडत हैं।..पोशाक देखो तो नीचे से ऊपर तक गरारेदार, मुंह पर लंबी डाढ़ी। जुबान पर घड़ी-घड़ी इन्साअल्लह और सुबहान अल्लह मानों वह कभी कश्मीर से आये ही न थे और न कभी इनके बड़ों ने संस्कृत पढ़ी थी।'' [36]

हिंदू-हिंदी और संस्कृत को जोड़कर देखने की मानसिकता इस तर्क को बहुत अधिक महत्व नहीं

---

35. बालकृष्ण भट्ट, पृ- 12
36. बालमुकुंद गुप्त, पृ-10

प्रदान करती थी कि भौगोलिक परिवर्तन धार्मिक संस्कृतियों की शुद्धता को स्वतः ही नष्ट कर देते हैं और व्यक्तियों एवं समुदायों में नई संस्कृतियों को अपनाने की सहज क्षमता विकसित करते हैं। बंगाल, केरल या आंध्रप्रदेश के मुसलमान को अगर अरबी-फारसी नहीं आती तो यह उसका दोष नहीं बल्कि स्थानीय संस्कृति में घुल मिलकर जीने की उसकी सहज इच्छा का परिणाम है। असम के चायबगानों में काम करने वाले ऐसे अनेक सिख हैं जो पंजाबी नहीं पढ़-लिख सकते और असमी भाषा का ही इस्तेमाल करते हैं। इसके अलावा जब कायस्थों या कश्मीरी ब्राह्मणों के उर्दू के प्रति झुकाव की आलोचना की जा रही थी उस समय पश्चिमोत्तर प्रांत के ही गांवों में बसे लाखों मुसलमान स्थानीय अवधी और ब्रज भाषा का इस्तेमाल बोलचाल के माध्यम के तौर पर कर रहे थे। उनकी ओर भी अरबी-फारसी के शिक्षित मुसलमाम बड़ी ही तिरस्कार की निगाह से देखते थे और उर्दू इस्तेमाल न करने की उनकी असमर्थता को कोसते थे। रामविलास शर्मा ने लिखा है कि *बंगाली, सिंध, पंजाबी और कश्मीरी जातीयताओं के निर्माण में मुसलमानों का व्यापक योगदान है और यह स्थानीय भाषाओं के ज्ञान से संभव हुआ न कि अरब-फारसी के माध्यम से।*[37]

धर्म के आधार पर जातियों (नेशनैलिटी) की कल्पना का बुनियादी अंतर्विरोध भी यही है कि वह सांस्कृतिक स्वायत्ता के नाम पर एक ही धर्म को मानने वालों सभी लोगों को सांस्कृतिक एकरूपता का पालन करने के लिए बाध्य करती है। इससे न केवल भिन्न धर्म-मजहब के प्रति एक बेबुनियाद घृणा को नैतिक स्वीकृति मिल जाती है बल्कि धर्म के भीतर संस्कृति की दृष्टि से मौजूद बहुलतावादी वातावरण धर्म की सामाजिक शक्ति और सम्मान के रास्ते में अवांछित अड़चन के रूप में देखा जाने लगता है।

बालमुकुंद गुप्त ने उपरोक्त पंक्तियां तब लिखी थीं जब 18 अप्रैल 1900 ई को पश्मिोत्तर प्रांत के

---

37. रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ- 123

गवर्नर मैकडॉनल ने एक आदेश पारित कर अदालतों में फारसी लिपि के साथ-साथ नागरी के प्रयोग की भी सरकारी इज़ाजत प्रदान कर दी थी। नागरी को अदालतों की भाषा के रूप में शामिल किए जाने का विरोध मुस्लिम भद्रवर्ग द्वारा किस प्रकार से किया गया इसकी जानकारी वीरभारत तलवार की पुस्तक रस्साकशी में मिलती है। इससे पता चलता है कि अलीगढ़ कॉलेज के सेक्रेटरी मोहसिन उल मुल्क ने उर्दूभाषी भद्रवर्ग की ओर से नागरी के खिलाफ मोर्चा संभाला। इसके अलावा उर्दू डिफेंस सोसायटी नामक संस्था ने भी उर्दू की रक्षा के लिए कमर कस ली। लेकिन जमींदार, ताल्लुकेदार और वकीलों से बना भद्रवर्ग ज्यादा दूर तक उर्दू को बचाने की लड़ाई नहीं जारी रख सका क्योंकि सरकारी की कड़ी निगाह उन पर थी। उन्होंने जल्द ही आंदोलन से अपने को अलग करने में भलाई समझी। इस बारे में वीरभारत तलवार के शोधपरक लेखन से पता चलता है कि *उर्दू के माध्यम से सरकारी नौकरी पाने की कोशिश करने वाली युवा पीढ़ी मुस्लिम भद्रवर्ग के पीछे हटने से बौखला उठी और कुछ ने कांग्रेस के माध्यम से और कुछ लोगों ने आगे चलकर मुस्लिम लीग के जरिए मुस्लिम हितों की रक्षा की लड़ाई आरंभ कर दी।*[38] इस प्रकार भाषा के आधार पर न केवल जायज लड़ाइयां लड़ी गईं बल्कि भाषा के आधार पर ही नाजायज दूरियां भी पैदा की गईं। हिंदी नवजागरण के भीतर नागरी और हिंदी को लेकर संघर्ष होने से ब्रिटिश राज्य को हिंदी का समर्थन तो मिल गया जिसका फायदा तब तक केवल फारसी लिपि या उर्दू ही अदालतों की भाषा बने रहकर उठा रही थी लेकिन इससे विभिन्न धर्म-समुदायों की धर्मनिरपेक्ष एकजुटता की प्रक्रिया को भी धक्का लगा। केवल एक ही भाषा समाज में सभी लोगों के इस्तेमाल की भाषा बन जाए यह काल्पनिक बात है जिसका यथार्थ से कम ही लेना देना है। हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा या उर्दू को पाकिस्तान की राजकीय भाषा बना देने से वहां मौजूद अन्य भाषाओं का अस्तित्व समाप्त नहीं हो गया है। लेकिन भाषा की मांग 19 वीं सदी में जिस ढंग से

---

38. वीरभारत तलवार, वही, पृ- 382

लड़ी गई, धर्म के प्रभुत्व और वर्चस्व को सामने रखकर उसमें न केवल धार्मिक अलगाव पैदा करने की ठोस संभावनाएं थी बल्कि स्थानीय संस्कृतियों-भाषाओं के प्रति भी एक खासी उपेक्षा का भाव भी था।

(iv) अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का प्रभाव

19 वीं सदी में दो सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पहला यह कि इस दौरान राजनीतिक स्तर पर भारत की पहचान एक राष्ट्र के रूप में बननी शुरू हुई। दूसरा यह कि शिक्षा और पश्चिमी ज्ञान के माध्यम से एक आधुनिक चेतना का विकास होना आरंभ हुआ। इस आधुनिक चेतना में ही राष्ट्र की कल्पना समाई हुई थी और राष्ट्र की कल्पना आधुनिक चेतना के स्वरूप का अपने ढंग से निर्धारण करती थी। राष्ट्र और आधुनिक चेतना का यह रिश्ता अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के प्रभाव से और अधिक मजबूत और गहरा हो रहा था। इस दौरान 1835 ई में लार्ड मैकाले ने एक नई शिक्षा नीति प्रस्तावित की जिसमें स्कूल स्तर पर अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा देने पर बल दिया गया जिसका मकसद अंग्रेजों की प्रशासनिक व्यवस्था चलाने के लिए भारतीयों को छोटे स्तर के कामों के लिए तैयार करना था। अंग्रेजी शिक्षा के असर को नोटिस में लेते हुए रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा,

''संवत् 1854 में ही ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास अंगरेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राम मोहनराय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अंगरेजी की पढ़ाई के लिए कलकत्ते में हिंदू कॉलेज की स्थापना की गई जिसमें से लोग अंगरेजी पढ़पढ़ कर निकलने लगे और सरकारी नौकरियां पाने लगे।'' [39]

आधुनिक शिक्षा के आरंभ और आधुनिक शिक्षा के प्रति चेतना का 19वीं सदी में सबसे बड़ा केंद्र कलकत्ता था। वहीं पर सुधारकों, मिशनरियों और अंग्रेज प्रशासन द्वारा सबसे पहले कई स्कूल-कॉलेज खोले गए। विलियम जोन्स ने 1784 ई में यहां एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की जिसका उद्देश्य

--

---

39. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ- 235

शिक्षा की आधुनिक प्रणाली की शुरुआत की दृष्टि से राजा राममोहनराय, ईश्वरचंद विद्यासागर और विलियम कैरे जैसे लोगों ने केंद्रीय भूमिका निभाई। 1817 में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई जो आगे चलकर 1855 ई में प्रेसीडेंसी कॉलेज के नाम से जाना गया। अंग्रेज मिशनरी विलियम कैरे ने कलकत्ते से करीब 20 किलोमीटर फासले पर बसे सीरमपुर नामक स्थान पर पहले 1800 ई में सीरमपुर मिशन और सीरमपुर प्रेस की स्थापना की फिर 1819 ई में सीरमपुर कॉलेज की नींव डाली। 1827 ई में सीरमपुर कॉलेज डेनिश यूनिवर्सिटी के रूप में पहले आधुनिक विश्वविद्यालय के रूप में जाना जाने लगा। इसी प्रकार 1828 ई में संस्कृत कॉलेज बन और 1850 ई में लड़कियों की शिक्षा के प्रबल समर्थक एक अंग्रेज अधिकारी जॉन बैथून द्वारा लड़कियों के स्कूल स्थापित किए गए। 1880 ई में बेथून स्कूल का उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी लड़कियों की भागीदारी बढ़ाने के लिए बेथून कॉलेज बना जिसमें शिक्षा प्राप्त करने वाली दो स्त्रियां कादंबिनी गांगुली और चंद्रमुखी बसु ने 1883 ई में पहली महिला ग्रेजुएट होने का गौरव अर्जित किया। मेडिकल और इंजीनियरिंग के क्षेत्रों में कुछेक संस्थानों की स्थापना हुई जिसमें 1835 ई में बनने वाला कलकत्ता मेडिकल कॉलेज प्रमुख था। इसके अलावा 1857 ई में लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर निर्मित कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी शैक्षिक परिदृश्य को काफी दूर तक प्रभावित किया। इस समूचे शैक्षिक परिदृश्य के निर्माण में मिशनरियों के प्रयत्न, सुधारकों का साहस और निष्ठा एवं अंग्रेजी राज की कोशिशें सभी कुछ शामिल था। बंग्ला, अंग्रेजी और फारसी आदि भाषाओं में सीरमपुर प्रेस और मिशन का योगदान इसकी एक मिसाल है। सीरमपुर मिशन ईसाइयत की शिक्षा के मकसद से गठित एक मिशनरी संगठन था और इसकी स्थापना 10 जनवरी, 1800 ई को विलियम कैरे नामक एक मिशनरी ने अपने दो अंग्रेज सहयोगियों की मदद से की थी। कैरे बंगाल में ईसाइयत का प्रचार करने आया था और बंगला में बाइबिल के अनुवाद में उसकी खास दिलचस्पी थी। इसके लिए सीरमपुर में एक चर्च भी बनाया गया जिसके मुख्य पादरी के रूप में कैरे ने काम संभाला। बाइबिल के स्थानीय भाषाओं में अनुवाद के कार्य को प्रकाशित करने के

लिए छापेखाने की भी जरूरत थी और इसी जरूरत के कारण कैरे के एक सहयोगी और छापेखाने के काम के विशेषज्ञ विलियम वार्ड के नेतृत्व में सीरमपुर मिशन प्रेस बनाया गया जिसने वर्ष 1800 ई के मार्च महीने से काम करना शुरू कर दिया। ये प्रेस ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रण में नहीं था और न ही कंपनी से उसे कोई वित्तीय मदद मिलती थी। इस प्रेस से मिशनरी गतिविधियों के तहत इंडस्ट्री, साहित्य, धर्म, विज्ञान, समाचारपत्र आदि क्षेत्रों में कई पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। यहां से छपने वाली बंग्ला किताबों से बंग्ला भाषा का भी विकास और नवनिर्माण हुआ। एक आकलन के मुताबिक सीरमपुर मिशन प्रेस से 1800 ई से 1832 ई के बीच करीब दो लाख बारह हजार किताबों का 45 भाषाओं में प्रकाशन हुआ। 1834 ई में विलियम कैरे के निधन और 1837 ई में मिशन के एक और आधार स्तंभ मार्शमैन की मृत्यु के बाद मिशन और प्रेस दोनों की हालत पर विपरीत असर पड़ा। आगे चलकर 1845 ई में सीरमपुर मिशन बंद हो गया जबकि इसके कुछ साल पहले ही सीरमपुर प्रेस का काम भी ठप हो गया था। लेकिन किस प्रकार मिशनरी प्रयास बंगाल के बौद्धिक जगत पर दूरगामी असर डालने के साथ-साथ बंग्ला गद्य का विकास कर रहे थे सीरमपुर मिशन और प्रेस इसकी अद्वितीय मिसाल माने जा सकते हैं। इसके अलावा खुद हिंदी इलाकों में भी आधुनिक शिक्षा को सामाजिक विकास की अनिवार्य शर्त के रूप में देखे जाने की प्रवृत्ति 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में व्यापक रूप से परिलक्षित की जाने लगी थी।

1882 ई में अंग्रेज सरकार ने हंटर आयोग का गठन ही इस मकसद से किया था कि लड़कियों की शिक्षा और सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की नीतियां बनाई जा सकें। हंटर आयोग के सवालों के जवाब में भारतेंदु ने लिखित जवाब आयोग के पास भेजे थे और इसमें लिखा था,

''भारत में इंग्लैंड की तरह ही प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाना चाहिए, लोगों की आम भाषा ही अदालत की भाषा होनी चाहिए।'' [40]

---

40. भारतेंदु हरिशचंद्र, भारतेंदु समग्र (संपा- हेमंत शर्मा), पृ 1054

हंटर आयोग ने शिक्षा और समाज की प्रमुख हस्तियों से यह सवाल भी पूछा था कि शिक्षा का कार्यभार सरकार को संभालना चाहिए या फिर इसे निजी प्रयासों के हाथ में छोड़ देना चाहिए। भारतेंदु ने इस सवाल के जवाब में सरकार द्वारा शिक्षा के प्रसार के दायित्व के वहन को सही और तत्कालीन सामाजिक परिस्थतियों के अनुकूल ठहराया। भारतेंदु ने लिखा,

''शिक्षा के क्षेत्र से सरकार के हट जाने से शिक्षा के प्रसार और उद्देश्य को गहरा झटका लगेगा। इस देश के निवासी काफी लंबे समय से हिंदू राजाओं और मुस्लिम सुल्तानों के निरंकुश शासन के अधीन रहे हैं। इस वजह से निर्भरता और गुलामी की प्रवृत्तियां इनकी आदतों में शामिल हो गई हैं और अंग्रेजी सरकार के शासन द्वारा इनमें स्वाधीनता की भावना जगाने में भी काफी वक्त लगेगा।''[41]

भारतेंदु के इस बयान से तत्कालीन बौद्धिक जगत की दो प्रवृत्तियों का स्पष्ट ज्ञान होता है। पहली यह कि भारतीयों में स्वाधीनता की भावनाओं का विकास होने लगा था और न केवल अंग्रेजी शिक्षा बल्कि अंग्रेजों के द्वारा समर्थित और प्रायोजित शिक्षा को भी अतीत की तमाम राजनीतिक-सामाजिक बुराइयों से मुक्ति के औजार के रूप में देखा जाने लगा था। इसके अलावा एक ऐसे राजनीतिक आत्मबोध का भी जन्म होने लगा था जो अंग्रेजी राज-शिक्षा पर भारतीयों की निर्भरता को शाश्वत नहीं बल्कि उपयोगी मानते हुए उसका लाभ उठाना चाहता था और सामाजिक विकास के उस न्यूनतम लक्ष्य को हासिल करना चाहता था जिससे भारत अपने को नई दुनिया में एक स्वतंत्र अस्मिता वाले राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान का दावा कर सके। उस समय सबसे मुश्किल काम इसी दावे को तार्किक आवरण में आत्मविश्वास पूर्वक प्रस्तुत करना था और इस आत्मविश्वास की अर्जित करने की प्रक्रियां भी कम चुनौतीपूर्ण या अनगिनत बाधाओं से भरी नहीं थी। राष्ट्र और आधुनिक समाज के आत्मविश्वास से संपन्न दावे को ही पेश करने के लिए भारतेंदु ने स्त्रियों की शिक्षा को केंद्र में रखने की हिमायत की। उन्होंने हंटर आयोग को दिए बयान में कहा,

---

41. वही, पृ-1055

''भारतीयों में पबिलक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपनी लड़कियों को भेजने की चेतना काफी कम है और वे पॅलिक स्कूलों के माध्यम से लड़कियों की शिक्षा की किसी योजना या विचार की प्रायः खिलाफ ही हैं। लेकिन हमारे यहां घरेलू शिक्षा की भी व्यवस्था है। प्रतिष्ठित लोग अपनी लड़कियों को पॅलिक स्कूलों में, चाहे वे किसी भी उम्र की क्यों न हों भेजना पसंद नहीं करते फिर वे स्कूल सरकारी नियंत्रण वाले हों या फिर निजी स्कूल। इसलिए वे अपने घरों में निजी ट्यूटरों को नियुक्त कर लड़कियों को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं। यह घरेलू शिक्षा प्रायः धार्मिक चरित्र की होती है और इसका पश्चिमी शिक्षा और ज्ञानोदय से शायद ही कोई संबंध होता हो।''[42]

भारतेंदु के ही लगभग समकालीन और उनके समानान्तर महाराष्ट्र में जोतिबा फुले भी आधुनिक-अंग्रेजी शिक्षा को भारतीयों खासकर शूद्रों के उत्थान के लिए एक कारगर हथियार के रूप में देख रहे थे, लेकिन वे परंपरागत ब्राह्मण वर्चस्व को भी आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार में बाधक मान रहे थे। उनकी 1869 ई में प्रकाशित मराठी कविता 'शिक्षा विभाग के ब्राह्मण अध्यापक' इस सवाल को काफी तीखे आक्रोश और व्यथा के साथ उठाती है कि किस प्रकार ब्राह्मणों ने शिक्षा के समूचे तंत्र पर कब्जा कर लिया है और वे निम्न जातियों को अंग्रेजी शिक्षा हासिल करने में सदियों के भेदभावपरक विचारों का अवरोधक की तरह इस्तेमाल कर रहे हैं। उन्होंने लिखा किस प्रकार ब्राह्मण शूद्रों को शिक्षा देते समय तो छुआछूत के नियमों का पालन करते हैं लेकिन अंग्रेजों को अस्पृश्य न मानकर उनसे हाथ मिलाते हैं। कविता में उन्होंने लिखा,

''पढ़ाने के बहाने प्रजा को मूर्ख बनाते।
द्विज पंडित को भेजते॥

42.वही, पृ-1060

पटवारी की मदद से कुछ बच्चे इकट्ठा करते।

संख्या रपट में लिखते॥

महारों के बच्चों को पढ़ाने में अपवित्र मानते।

अंग्रेजों से हाथ में हाथ मिलाते॥'' [43]

शिक्षा के क्षेत्र में कैसे एक सवर्ण और शूद्र बालक के बीच अंतर किया जाता और कैसे निम्न जाति के बच्चों से स्कूलों में ब्राह्मण अध्यापकों द्वारा ऐसा व्यवहार किया जाता है जिससे वे स्कूली शिक्षा को लेकर निरुत्साहित हो जाते हैं, इसके बारे में भी 'शिक्षा विभाग के ब्राह्मण अध्यापक' कविता में फुले ने लिखा,

'' स्वजाति के गलती करने पर बार-बार समझाते।

शिक्षा समझाकर देते॥

परजाति के बच्चे गलती करते, थप्पड़-मुक्का मारते।

जोर से कान ऐंठते॥

शूद्र बालक को मन से घायल करके भगा देते।

केवल गिनती को रखते।

शिक्षा विभाग का बड़ा अधिकारी आता चुगलखोरी करते।

कितनी अर्जी उनको देते॥'' [44]

ब्राह्मणों के उत्पीड़न और देश में शिक्षा की अपर्याप्त व्यवस्था के कारण फुले ने माना कि अंग्रेज बहादुरों

के शासन की मेहरबानी से अज्ञानी शूद्रादि-अतिशूद्रों को कुछ न कुछ लिखने पढ़ने की योग्यता प्राप्त

---

43. जोतिबा फुले, महात्मा जोतिबा फुले रचनावली खंड 1(संपा- एलजी मेश्राम विमलकीर्ति), पृ89

44. वही, पृ-90

हुई। 1882 ई में हंटर आयोग के समक्ष फुले ने देशी शिक्षा और मिशनरी स्कूलों दोनों की व्यवस्था को अपर्याप्त बताते हुए सरकार से शिक्षा के मामलों में अधिक से अधिक दिलचस्पी दिखाने की अपील की। शिक्षकों के बारे में लिखा कि वे ज्यादातर ब्राह्मणों की पृष्ठभूमि से आते हैं और उनकी योग्यता मराठी भाषा को लिखने और पढ़ने से या थोड़ी बहुत गणित की शिक्षा से अधिक नहीं होती। वे जीविकोपार्जन के अंतिम साधन के रूप में शिक्षण के पेशे को अपनाते हैं। मिशनरी स्कूलों के बारे में फुले ने कहा कि वे न तो बेहतर परिणाम दिखाने और न छात्रों को अधिक संख्या में अपनी ओर खींचने में कामयाब हुए हैं! इसी के मद्देनजर उन्होंने प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षा के मामले में सरकार से ज्यादा से ज्यादा मदद मुहैया कराने की गुहार की। उन्होंने माना कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र से सरकार के अलग हटने से भले ही ब्राह्मणों और ऊंची जातियों को नुकसान न हो लेकिन नीची जातियां, जिनके बीच उच्च शिक्षा का अधिक विकास नहीं हुआ है, उन्हें बड़ी ही मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा।

आधुनिक शिक्षा कैसे अनेक राष्टीताओं और धर्मों में विभक्त भारतीय समाज को एकजुट करने में मददगार हो सकती है इसकी भी बड़ी सटीक पहचान फुले को थी। इसलिए उन्होंने न केवल शूद्रों-अतिशूद्रों के विकास के दृष्टिकोण से आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता को रेखांकित किया बल्कि राष्ट्रीय एकजुटता की भावना के विकास के लिए भी अंग्रेजो की शिक्षा व्यवस्था को अपनाने की वकालत की। फुले ने लिखा,

''स्कूलों-कॉलेजों की शिक्षा में सरकार की दखल न रह जाने से शिक्षा के प्रसार में तो बाधा आएगी ही साथ ही भिन्न जातीयताओं और विचारों वाले भारत देश में शिक्षा के क्षेत्र में तटस्थता बनाए रखने के सरकारी उद्देश्य को भी आघात लगेगा।''[45]

19वीं सदी में अंग्रेजी शिक्षा का अर्थ केवल अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा हासिल करना नहीं बल्कि ज्ञान

---

45. वही, पृ- 23

के नए और आधुनिक स्रोतों से अपने को जोड़ना था। यह सच है कि उपनिवेशवाद किसी भी समाज को आधुनिकता के लक्ष्य से परिचित तो कराता है लेकिन वह समाज के आधुनिक रूपांतरण के लक्ष्य को पूरी तरह से प्राप्त करने के मार्ग में बाधक भी बन जाता है। उपनिवेशवाद उसी सीमा तक शिक्षा, कानून, व्यापार, सुरक्षा या यातायात की संस्थाओं एवं साधनों को उपनिवेशों में विकसित करता है जिस सीमा तक वे उसके अपने हितों को पूरा करती हैं। विकास की दृष्टि से उपनिवेशवाद की इसी सीमित और स्वार्थी भूमिका का आभास उस वर्ग को शीघ्र लग जाता है जो राष्ट्रीय विकास को औपनिवेशिक हितों के बंधन से आजाद कर स्वतंत्र लक्ष्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। बंगाल में यंग बंगाल मूवमेंट के जनक हेनरी विवियन डेरोजियो (1809-1831) ने इसी बात को कुछ इस प्रकार से लिखा था,

''कुछ लोगों का विचार है कि औपनिवेशीकरण से हमारे देश की कई बुराइयों को प्रभावी तरीके से खत्म करने में सहायता मिलेगी, परंतु यह देखना है कि ऐसा प्रयास कब होता है। मुझे इस पर विश्वास नहीं और इस धारणा में कि सभी सत्प्रयासों की अपेक्षा औपनिवेशीकरण से ही भारत का फायदा है, सत्य की अपेक्षा लफ्फाजी अधिक है।''[46]

इसके अलावा एक और बात जो आधुनिक शिक्षा के बारे में लोगों के विशिष्ट रवैये की द्योतक थी, वह यह कि इस समय अपने धर्म, समुदाय और जाति को शिक्षा से जोड़ने की कोशिश करने वाले सुधारकों का प्रादुर्भाव हुआ। भारतेंदु अपने लेख 'वैष्णवता और भारतवर्ष' (1884ई) में हिंदुओं से कह रहे थे,

''जिस भाव से हिंदूमत अब चलता है उस भाव से आगे नहीं चलेगा।''[47]

इसी प्रकार पश्चिमोत्तर प्रांत के एक मुस्लिम समाज सुधारक सर सैय्यद अहमद खां भी मुसलमानों

---

46. हेनरी विवियन डेरोजियो, , सामाजिक क्रांति के दस्तावेज खंड 1 (संपा- शंभूनाथ), पृ- 799.
47. भारतेंदु हरिशचंद्र, पृ- 976

से नई परिस्थतियों के अनुकूल परिवर्तनकारी शक्तियों को पहचानने और उनके अनुकूल अपने को ढालने के लिए तैयार रहने का आह्वान कर रहे थे। सर सैय्यद अहमद खां ने मुसलमानों के पिछड़ी कौम बन जाने के डर के आधार पर अंग्रेजी तालीम की तरफदारी की और इस्लाम की हिफाजत के लिए नई शिक्षा संस्कृति को अपनाने की पुरजोर वकालत की। उन्होंने नए ज्ञान के लिए पैगंबर मोहम्मद साहब की प्रेरणा को सामने रखते हुए कहा कि पैगंबर ने नए ज्ञान की खोज के लिए चीन जाने के लिए भी तैयार रहने को कहा था जबकि चीन एक गैर इस्लामी मुल्क था। सैय्यद अहमद ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की अनिवार्यता को तर्कपूर्ण ढंग से पेश करते हुए लिखा,

''मैं अंग्रेजों की शिक्षा पद्धति को अपनाने पर केवल इसलिए जोर नहीं दे रहा हूं क्योंकि वे हमारे शासक हैं और अपने अस्तित्व रक्षा के लिए ऐसा करना जरूरी है। बल्कि यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि यूरोप ने विज्ञान में महत्वपूर्ण प्रगति की है और उसे प्राप्त न करने का प्रयास आत्मघाती होगा। हमारे ज्ञान और यूरोपीय ज्ञान में व्यापक अंतर है। यदि हम इसकी (यूरोपीय ज्ञान की) उपेक्षा में इसी तरह दुराग्रही बने रहे तो हम काफी पीछे छूट जाएंगे। यदि हम अज्ञान में डूब जाएंगे तो कैसे मुसलमान रह पाएंगे और इस्लाम की खिदमत कर पाएंगे।''[48]

इस प्रकार उपनिवेशवाद को महज एक राष्ट्रीय-जातीय पीड़ा नहीं बल्कि विकास के एक प्रछन्न अवसर के रूप में देखा जा रहा था। उपनिवेशवाद को यूरोपीय ज्ञान के वाहक के रूप में समझा गया और इस अर्थ में उपनिवेशवाद एक ऐसा माध्यम के रूप में बदल गया जो यूरोपीय ज्ञानोदय की शक्तियों से भारतीय समाज को जोड़ सकता था। यूरोपीय ज्ञान का तिरस्कार केवल इसलिए करना गलत माना गया क्योंकि एक औपनिवेशिक ताकत के रूप में अंग्रेजी शासन उससे भारत को परिचित करा रहा था। यूरोपीय ज्ञान और उपनिवेशवाद को दो स्वतंत्र शक्तियों के रूप में देखते हुए भी उनके प्रछन्न रिश्ते को स्वीकार किया गया और अपनी जातीय-धार्मिक प्रगति के लिए नई शिक्षा हासिल करना एक नैतिक-

---

48. सैय्यद अहमद खां, सामाजिक क्रांति के दस्तावेज खंड 1, पृ- 290

सामाजिक लक्ष्य मान लिया गया। आगे चलकर 1909ई में महात्मा गांधी ने अपनी नई किताब 'हिंद स्वराज' में इस पूरी तर्क प्रणाली को लगभग उलट दिया। नवजागरणकालीन लेखक-चिंतक अगर मानते थे कि अंग्रेजी राज इसलिए उपयोगी है क्योंकि वह यूरोपीय सभ्यता-ज्ञान से भारत को परिचित करा रहा है तो गांधी जी कहते थे कि अंग्रेजी राज़ की बुनियादी बुराई इसी में निहित है कि वह यूरोपीय सभ्यता के रूप में एक **'चांडाल सभ्यता'**[49] का प्रतीक है। गांधी ने यूरोपीय सभ्यता के अनेक प्रतीकों की निंदा की जैसे कि उन्होंने इंग्लैंड की पार्लियामेंट को बांझ और वेश्या बताया और इसी प्रकार अंग्रेजी शिक्षा के बारे में लिखा,

''करोड़ों लोगों को अंग्रेजी की शिक्षा देना उन्हें गुलामी में डालने जैसा है। मेकॉले ने शिक्षा की जो बुनियाद डाली वह सचमुच गुलामी की बुनियाद थी।''[50]

इस प्रकार अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के बारे में दृष्टिकोण में एकरूपता नहीं बल्कि अपार विविधता मौजूद थी। नवजागरणकालीन अधिकांश लेखक मानते थे कि अंग्रेजी तालीम इसलिए जरूरी है क्योंकि वह आधुनिक विज्ञान, चिकित्सा, भूगोल, इतिहास और गणित जैसे विषयों से भारतीयों को परिचित कराती है और अंग्रेजों की तुलना में भारतीयों के पिछड़ेपन को दूर करने में मदद करती है।

इसके लिए लेखकों ने स्वयं भी आधुनिक ज्ञान विज्ञान से जुड़ी किताबें लिखीं। मसलन शिवप्रसाद सितारे हिंद ने पाठ्यपुस्तकों की जरूरत के मद्देनजर भूगोल हस्तमालक, विद्यांकुर और इतिहासतिमिरनाशक जैसी कृतियां लिखीं तो भारतेंदु ने भी इतिहास और पुरातत्व से जुड़ी पुस्तकों की रचना की। महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे लेखकों ने आधुनिक शिक्षा की जिम्मेदारी से अपने को बचाती अंग्रेज सरकार की कई बार कठोर आलोचना की। 1915 ई में लिखे अपने लेख 'शिक्षा प्रचार के

---

49. महात्मा गांधी, हिंद स्वराज, पृ-46

50. वही, पृ- 74

लिए गवर्नमेंट का खर्च' में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बाकायदा आंकड़ों सहित बताया कि किस प्रकार अंग्रेजी शासन फौज और रेल की तुलना में बेहद कम पैसा खर्च करती है। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया कि सरकार सौ में से केवल चार रुपए शिक्षा पर खर्च करती है।

इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव केवल यहीं तक सीमित नहीं था कि वह भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान से बड़े ही एकतरफा और यांत्रिक ढंग से जोड़ती थी। उसका प्रभाव यह भी था कि इस समय के सभी सुधारवादियों और लेखकों में वह शिक्षा और ज्ञान के प्रति नई ललक को जगा रही थी और वे निजी प्रयासों के साथ-साथ अंग्रेजी हुकूमत पर भी शिक्षा प्रसार के दायित्व को वहन करने के लिए दबाव बना रहे थे।

51. महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रतिनिधि संकलन, पृ-137

तृतीय अध्याय : राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद का प्रश्न

(i) हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं की भूमिका

(ii) सामासिक संस्कृति और भाषिक भिन्नता

अध्याय – 3

राष्ट्रीय आंदोलन और राष्ट्रवाद का प्रश्न

(1) हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं की भूमिका

सन् 1900 के बाद तक हिन्दी लेखकों का रुझान राजभक्ति की ओर था और देशप्रेम और राजभक्ति दोनों बातें एक साथ उनके लेखनकार्य में मिलती हैं। इससे पता चलता है कि आम जनता में अभी राष्ट्रीय चेतना का अभिप्राय अंग्रेज़ों का या उनके साम्राज्य का विरोध नहीं था। राजनीतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य बहुत बाद में जाकर बना अभी राष्ट्र चेतना का अभिप्राय अपनी सांस्कृतिक–ऐतिहासिक पहचान को निर्मित करना था। अंग्रेज़ी राज से मिलने वाले लाभों के कारण इस युग के लेखकों की रचनाओं में राजभक्ति भी मिलती है लेकिन अनेक रचनाओं में जहाँ तहाँ उनके शासन की बुराईयों का जिक्र करना और देश के लोगों के हितों की चिंता को विकसित हो रही राष्ट्रीय चेतना का हिस्सा मानना चाहिए। राष्ट्रीय आंदोलन का यह आरंभिक दौर माना जा सकता है जब पहली बार अपने समाज की संरचना को समझने के प्रयास शुरू हुए। भारत की आंतरिक समस्याएं, सामंती व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संरचना एक बड़ी चुनौती के रूप में स्वीकार की गई। इसलिए धर्म–सुधार, समाज–सुधार आंदोलनों को बढ़ावा मिला। इसमें अंग्रेज़ी राज की मदद और उनकी सोच को सहायक माना गया। अपनी भाषा का विकास और उसके माध्यम से सांस्कृतिक अस्मिता का निर्माण तथा साहित्य–रचना की आवश्यकता की भावना प्रबल हुई। सन् 1877 में 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' देते हुए भारतेंदु ने कहा –

पढ़े संस्कृत जतन करि पण्डित भे विख्यात।
पै निज भाषा ज्ञान बिन कहि न सकत एक बात।।
पढ़े फारसी बहुत विध तौहू भये खराब।
पानी खटिया तर रही पूत मरे बकि आब।
अंग्रेज़ी पढ़ि के जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन।
यह सब भाषा काम की जब लौं बाहर बास।
घर भीतर नहिं कर सकत इन सों बुद्धि प्रकास।
नारि पुत्र नहिं समझहीं कछु इन भाषन माहिं।
तासों इन भाषन सों काम चलत कछु नाहिं।
उन्नति पूरी है तबहि जब घर उन्नति होय।[1]

संस्कृत, फारसी और अंग्रज़ी तीनों की जनभाषाएँ नहीं थीं। 'निजा भाषा' में कामकाज और समाज के विकास के लिए उसकी आवश्यकता राष्ट्रीय चेतना का हिस्सा थी। यह निज भाषा हिंदी ही थी –

'सो माता हिंदी बिना कछु नहिं जानत और।
तासों निज भाषा अहै, सबही की सिरमौर।
पढ़ो लिखो कोउ लाख बिध भाषा बहुत प्रकार।
पे जबही कछु सोचिहो निजा भाषा अनुसार।'[2]

अन्य भाषाओं का ज्ञान आवश्यक था पर वास्तविक उन्नति 'अपनी भाषा' से थी ठीक वैसे ही जैसे अंग्रेज़ों ने किया –

'पै निज भाषा जानि तेहि तजत नहीं अंग्रेज़।
दिन दिन याही को करत उन्नति पै अति तेज।'[3]

---

1 भारतेंदु – भारतेंदु समग्र, पृ. 228.
2 वही, पृ. 223.
3 वही, पृ. 224.

'राष्ट्रीय अस्मिता' और उन्नति की यह अवधारणा भी योरोपीय राष्ट्र की अवधारणा से प्रभावित थी –

'तासों सबहीं भाँति हैं इनकी उन्नति आज।
एकहि भाषा महँ अहै जिनकी सकल समाज।।'[4]

भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा यह लेक्चर 'हिंदी वर्द्धिनी सभा में पढ़ा गया था जिसे बाद में 'हिंदी प्रदीप' पत्रिका में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिंदी भाषा' नाम से प्रकाशित किया गया। एक राष्ट्र भाषा से ही विकास संभव है यह इनकी परिकल्पना से बाहर था कि एक राष्ट्र में कई भाषाएँ हो सकती हैं।

भारतेंदु युगीन साहित्य में सिर्फ समाज की चिंता ही नहीं है अपनी भाषा की भी चिंता है जिसमें वे रचना कर रहे हैं। हिंदी के लिए यह चिंता 'भारतेंदु यगु' से ही शुरू हो गई थी। लेकिन यहाँ हिंदू जाति की चिंता करते हुए हिंदी भाषा की चिंता की गई है। 'हिंदी' जो हिंदुओं की अस्मिता व जातीयता का प्रतीक बना दी गई उसका मूल बैर अंग्रेज़ी से भी उतना नहीं था जितना 'उर्दू' से था जिसे मुस्लिम अस्मिता का प्रतीक बनाया गया। 19वीं सदी के साहित्य के इतिहास की भूमिका में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जिस साहित्यिक प्रतिमान को स्थापित करते हैं, वह है – 'सत्ता बनाम लोक।' 'लोकमंगल की भावना' साहित्य के मूल्यांकन का मापदण्ड है। लेकिन आश्चर्य इस बात पर होता है कि लोकप्रचलित खड़ी बोली हिन्दी जिसमें उर्दू का लहज़ा और शब्द भण्डार है, उसे वे स्वीकार नहीं कर पाते। खड़ी बोली हिन्दी में लिखी कविता की जगह वे 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा' को आदर्शीकृत करते हैं। 'देश भाषा का विरोध' और अंग्रेज़ी राज द्वारा उर्दू को जो समर्थन प्राप्त हुआ उसके संदर्भ में वे गार्सां द तासी का उदाहरण देते हैं – हिंदी

---

4 भारतेंदु – भारतेंदु समग्र, पृ. 228.

के संदर्भ में गार्सां द तासी फरमाते हैं – 'इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली (डायलेक्ट) की सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग अलग ढंग से बोली जाती है।'[5]

दरअसल जिस अदालती भाषा 'उर्दू' का विरोध प्रबलता से किया जा रहा था वह उर्दू न होकर फारसी ही थी ? 'उर्दू प्रांतीय राजभाषा थी इसलिए वह मुस्लिम अस्मिता का प्रतीक बन गई जैसा कि डॉ. वीर भारत तलवार लिखते हैं। इसके जरिए भद्रवर्गीय मुसलमान आसानी से सरकारी नौकरियों पर अपना कब्जा रखते चले आ रहे थे। राजभाषा होने के कारण इसका अरबी फारसी करण भी बहुत हुआ'[6] ... इससे अलग जिस 'देश भाषा' या 'देश की असली भाषा' जिसे आचार्य शुक्ल उर्दू से अलग मानते हैं, इसमे शिक्षा और साहित्य निर्माण को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। भारतेंदु अपने बलिया भाषण के अंत में जिस 'निज भाषा' की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं वह भाषा 'आर्य संस्कृति' के राष्ट्र की भाषा है। बलिया में दिए गए भाषण के अंत में वे कहते भी हैं –

'लहहु आर्य्य भ्राता सवै विद्या बल बुद्धि ज्ञान।
मेटि परस्पर द्रोह मिलि होहु सबै गुन–खान।'[7]

इसे स्पष्ट रूप में प्रतापनारायण मिश्र 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' के नारे से प्रचारित करते हैं। 'ब्राह्मण' पत्र की प्रस्तावना में वे लिखते हैं (15 मार्च, सन् 1883 ई.) – 'हम ब्राह्मण हैं। हमारे पूर्व पुरुष अपने गुणों के कारण किसी समय सर्व प्रतिष्ठा के पात्र थे।[8] और इस पत्र के बंद होने पर इसके 'अंतिम संभाषण में' जब 'ब्राह्मण ने सात वर्ष तक संसार की सैर कर ली' वे कारण बताते हैं – '... क्योकि यहां के हिंदू समुदाय में अपनी भाषा और अपने भाव का ममत्व विधाता ने रखा ही नहीं फिर हम क्योंकर मान लें कि यहां हिंदी और

---

5 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 280.
6 वीर भारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 292.
7 भारतेंदु – भारतेंदु समग्र, पृ. 230.
8 विजयशंकर मल्ल (संपादक) – प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली, पृ. 516.

उसके भक्त जन कभी सहारा, पावैंगे। ऐसे स्थान पर जन्म ले के और खुशामदी तथा हिकमती न बनके ब्राह्मण देवता इतने दिन तक बने रहे, सो एक भी स्वेच्छाचारी के द्वारा संचालित हो के, इसे प्रेम देव की आश्रम लीला के सिवा क्या कहा जा सकता है ?'[9] हिंदी हिंदू अस्मिता का प्रतीक नहीं बनी बल्कि उस ब्राह्मणवादी उच्च हिंदू जाति का प्रतीक बनाने की कोशिश की गई जो जनसंख्या के प्रतिशत में सबसे छोटा था। जिससे सहयोग न मिलने के कारण 'ब्राह्मण' पत्र बंद करना पड़ा।

इस तरह जनभाषा के आधार पर राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माण अनेक स्तरों पर हो रहा था। मजहबी कट्टरपन, जातिवाद, अशिक्षा, अंधविश्वास, रूढ़ियां आदि आंतरिक समस्याओं से जूझते हुए राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान निर्मित करने का कार्य किया जा रहा था। भारतेंदु युग के ही बालमुकुंद गुप्त 'लिपि' विषयक निबंध में हिंदी–उर्दू को दो अलग–अलग जबानें नहीं मानते और न ही हिंदू मुसलमानों के झगड़ो को देश के लिए हितकारी। 'मुसलमानों को यह जानना चाहिए कि जिस भाषा को वह उर्दू कह रहे है, वह हिंदी से अलग नहीं है। उर्दू के आदि कवियों ने उस भाषा को हिन्दवी कह कर पुकारा है। हिंदी को आप लोग जबर्दस्ती फारसी अक्षरों में लिखने लगे थे ...'[10] बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली (भारत मित्र, सन् 1900) बालमुकुन्द गुप्त ने यह निबंध तब लिखा था जब अन्दोनी मेकडानल, जोकि उस समय पश्चिमोत्तर प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, उन्होंने 1500 ई. में अदालतों में फारसी लिपि के साथ–साथ नागरी लिपि के इस्तेमाल का नियम लागू कर दिया। तब तरह–तरह के विरोध भी हुए। इन विरोधों का सामना करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने "हिंदी के सच्चे हितैषी" के रूप में लिखा ... "अंग्रेज़ों के दफ्तरों को छोड़कर और कचहरियों के कर्मचारियों को साल भर के अंदर हिंदी और उर्दू दोनों ही

---

9 विजयशंकर मल्ल (संपादक) – प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली, पृ. 532.

10 बालमुकुन्द गुप्त ग्रंथावली – (लेख भारत मित्र, सन् 1500), पृ. 7.

भाषाएँ सीख लेने का भी हुक्म हो गया। इससे देवनागरी लिपि में अर्जियां इत्यादि लेने और सम्मन इत्यादि निकालने वाली अदालतों के हाकिमों और मुलाजिमों के लिए दोनों लिपियां जानना आवश्यक हो गया। यह सब कुछ तो हुआ, पर जिन लोगों के बाप–दादों की बदौलत नागरी लिपि उत्पन्न हुई और अब तक जीती है, जिनके धर्म कर्म के सारे ग्रंथ इसी लिपि में है, मरने के समय जिनके काम में इसी लिपि में लिखे गए धर्मोपदेश और राम नाम पढ़ते हैं, उन्हीं की कृपा से सर अन्टोनी मेकडानल की पूर्वोक्त आज्ञा यथेष्ट फलीभूत न हुई। उन्होंने अपनी पूर्व परिचित भाषा और टेढ़ी–मेढ़ी लिपि लिखना न छोड़ा।"[11] महावीर प्रसाद द्विवेदी उर्दू का पक्ष लेने वालों और हिंदी का विरोध करने वालों का ही सामना नहीं करते बल्कि 'हिन्दी सुधारने' और भाषा.गढ़ने का दायित्व भी अपने ऊपर लेते हैं। सरस्वती के सम्पादक के रूप में वे 'भाषा और व्याकरण' नाम से निबंध लिखते हैं। जवाब में बालमुकुंद गुप्त 'भाषा की अनास्थिरता' शीर्षक से सन् 1505 में भारत मित्र में लिखते हैं, 'आपने साबित कर दिया है कि हरिश्चंद्र से लेकर आजतक जितने हिंदी लिखने वाले हुए हैं सबकी हिंदी अशुद्ध है ... द्विवेदी जी घबराते हैं कि हिंदी भाषा में एक भी सर्वमान्य व्याकरण अभी तक नहीं बना। इससे पचास साल की पुरानी भाषा आजकल की भाषा से नहीं मिलती तथा एक अखबार की हिंदी दूसरे की हिंदी से नहीं मिलती। ... श्रीमान् की यह घबराहट उस देहातन की घबराहट से कम नहीं है जो एक दिन शहर में सूत बदलाने चली गई थी। वहां जाकर उसने देखा कि पचासों गाड़ियाँ रूई भरी सामने से आ रही हैं। देखकर बेचारी को ज्वर आ गया। काँप कर गिर गई और कहने लगी कि हाय–हाय इतनी रूई कौन कातेगा ? उस बेचारी बुढ़िया को डर हो गया था कि सब रूई उसे ही कातनी पड़ेगी। उसी तरह हमारे द्विवेदी जी महाराज को भय हुआ है कि पचास

---

11 महावीर प्रसाद द्विवेदी (प्रतिनिधि संकलन) : लेख – कौंसिल में हिन्दी, पृ. 167.

साल पहले की हिंदी आज की हिंदी से नहीं मिलती है, तब सौ साल के बाद क्या हाल होगा।'[12]

हिंदी को गढ़ने और सुधारने के पीछे महावीर प्रसाद द्विवेदी की जो मानसिकता थी वह हिंदी–उर्दू विवाद और अंग्रेज़ी राज्य में उसे कामकाज की भाषा बनाने से उपजी थी इसका विवरण उनके लिखे दो निबंधों में होता है – 'साहबी हिंदी' और 'कौंसिल में हिंदी' जैसे निबंधों में मिलता है। जो सरस्वती पत्रिका में क्रमशः जनवरी–मार्च 1908 और अप्रैल 1917 में छपे। 'साहबी हिंदी' में वे लिखते हैं "जेता को विजित की भाषा का अच्छा ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। इसके बिना प्रजा के आंतरिक भाव राजा अच्छी तरह नहीं जान सकता। अंग्रेजी भाषा बहुत क्लिष्ट है। उसका व्याकरण और उच्चारण बिल्कुल ही वाहियात और अनियमित है। तिस पर भी सैकड़ों हिन्दुस्तानी विद्वानों ने अंग्रेज़ी में उत्तामोत्तम किताबें लिख डाली हैं। इस समय कितने ही हिन्दुस्तानी विद्वान अंग्रेज़ी में अखबारों का सम्पादन बड़ी ही योग्यता से कर रहे हैं और कौंसिल में बैठकर अपने अंग्रेज़ी वक्तृताओं से अंगरेज़–श्रोताओं को आश्चर्य में डाल रहे हैं।" '... परंतु कितने साहब ऐसे हैं जो हिन्दुस्तान की भाषाओं में अखबार या पुस्तके लिखते हों या पढ़े लिखे हिन्दुस्तानियों के सामने व्याख्यान देते हों ? ... जो कुछ हिंदी के विषय में आप लोगों ने लिखा है प्रायः सब अंग्रेज़ी में।'[13]

मोक्ष मूलर, बेबर, रोट, वूलर पिटर्सन कीलहार्न, विल्सन और विलियम्स संस्कृत के आचार्य समझे जाते हैं। पर आप लोगों की कलम से निकली हुई संस्कृत की पुस्तकें शायद ही किसी ने देखी हों।[14] '... देश की भाषा के प्रसार और अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रभाव के प्रति

---

12 बालमुकुन्द गुप्त ग्रंथावली, पृ. 37.

13 महावीर प्रसाद द्विवेदी (प्रतिनिधि संकलन) : लेख – साहबी हिन्दी, पृ. 160–161.

14 वही, पृ. 160–161.

भी वे सतर्क थे। एक हिंदी अखबार को बाहर जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा था, वह देश के आत्मसम्मान से जुड़ा सवाल भी था। लेकिन यह भाव एक खास वर्ग या समुदाय तक सीमित था। जब 'कौंसिल में हिंदी' के (नागरी के) विरोध में तर्क दिए गए – "उर्दू भाषा मुसलमानों ही की बदौलत अस्तित्व में आई और उन्नति को पहुँची है वह अब सारे भारत की राष्ट्र भाषा (Lingua Franca) है। देहाती गंवार तक उसे बोल सकते और समझ सकते हैं। जिसे हिंदी कहते हैं वह सर्वसाधारण की भाषा नहीं।

अंग्रेज़ी राज्य के पहले हिंदी भाषा का नाम तक किसी को मालूम न था। हिंदी लिपि शायद रही हो, पर उस लिपि में अपने विचार प्रकट करने वाले लोग गँवार ही समझे जाते थे। ... हिंदी कोई भाषा नहीं। 1900 या 1898 ई. के पहले का एक भी सरकारी लेख या कागज़ नहीं पेश किया जा सकता जिसमें गवर्नमेंट ने हिंदी को भी कोई भाषा माना हो।"[15] कौंसिल में हिंदी इस विरोध में जो जवाब बताया गया हिंदी और उर्दू ये दोनों भाषाएं इस प्रांत में प्रचलित हैं और प्रजा का अधिकांश हिंदी भाषा और नागरी लिपि ही जानता है। यह एक वास्तविकता भी थी कि आम बोलचाल में हिंदी–उर्दू का झगड़ा उस तरह से था भी नहीं जितना उसे मजहबी रंग देकर राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बढ़ाया गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं हिंदी और हिंदू को एक दूसरे को पर्याय के रूप में देखते हैं – "उर्दू को मुसलमान अपनी भाषा समझते हैं, हिन्दी को हिन्दू अपनी भाषा समझते हैं। उर्दू के प्रचार के लिए जिस तरह मुसलमान दत्तचित्त है उसी तरह हिंदी के प्रचार के लिए यदि हिंदू दत्तचित्त हों तो इसमें अस्वाभाविकता या अनौचित्य कैसा ?"[16]

हिंदी की मांग करते हुए भी इस समय अनेक अंतर्विरोध मौजूद थे। एक ओर हिंदी को देश भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता महसूस की गई दूसरी ओर हिंदी

---

15 महावीर प्रसाद द्विवेदी (प्रतिनिधि संकलन) : लेख – कौंसिल में हिन्दी, पृ. 168–169.
16 वही, पृ. 171.

के विभिन्न रूपों व उसकी जातीय पहचान को लेकर मतभेद चलते रहे। महावीर प्रसाद द्विवेदी आर्यसमाजी थे। वे हिंदू धर्म में सुधार आंदोलनों के माध्यम से समाज में नई चेतना के विकास की बात करते थे। हिंदू धर्म की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं और 'वेद', ब्राह्मण, शास्त्रार्थ, स्त्रियों, भागवत्गीता आदि का इतिहास लिखते हुए व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। इसका सारा श्रेय वे अंततः अंग्रेज़ अधिकारियों को ही देते हैं जिनकी मदद से प्राचीन भाषिक संस्कृति की श्रेष्ठता उपलब्ध हो सकी। 'अंग्रेज़ अधिकारियों ने संस्कृत सीखने की ओर ध्यान तो अपने स्वार्थ साधने के लिए दिया था – उन्होंने तो इसलिए पहले पहल संस्कृत सीखने की जरूरत समझी थी जिसमें हम लोगों की रीति रस्में आदि जानकर भारत पर बिना विघ्नबाधा के शासन कर सकें ... यदि योरोप वाले संस्कृत की कदर न करते तो हजारों अनमोल ग्रंथ यहीं कीड़ों की खुराक हो जाते। ... आजतक योरोप के विद्वानों ने जो अनेकानेक अलभ्य ग्रंथ प्रकाशित किये हैं अनेकानेक वैदिक रहस्यों का उद्घाटन किया है और अपने पूर्वजों के किसी समय एकत्र एक ही जगह रहने और एक ही भाषा बोलने के विषय में जो प्रमाणपूर्ण अनेकानेक पुस्तकें लिखी हैं – उसके लिए भारतवासी उनके बहुत कृतज्ञ हैं।'[17]

अंग्रेज़ी राज के प्रति यह कृतज्ञता उस दृष्टि का परिणाम थी जो स्वयं अंग्रेज़ों द्वारा ही निर्मित की गई थी। भारत के सांस्कृतिक, बौद्धिक इतिहास की जानकारी हासिल करने के लिए उन्होंने जो अध्ययन किया वह संस्कृत भाषा में था और संस्कृत में शिक्षा का संबंध मूलतः ब्राह्मण वर्ग से था। ब्राह्मण वर्ग के धार्मिक संस्कारों को संपूर्ण भारत की संस्कृति का पर्याय मान लिया। हिंदू धर्म के आदि रूप पर गर्व का भाव लिए और उसके

---

17 महावीर प्रसाद द्विवेदी (प्रतिनिधि संकलन) : लेख – पुराने अंग्रेज़ अधिकारियों को संस्कृत पढ़ाने का फल, पृ. 119.

माध्यम से अंग्रेज़ी राज व सरकार से मिलने वाले लाभों की आस की जाने लगी। 'सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी' शीर्षक निबंध में यह बताया गया है कि – 'सर विलियम जोन्स सुप्रीम कोर्ट के जज मुकर्रर होकर 1783 ई. में कलकत्ते आये। ... उन्हें संस्कृत सीखने की इच्छा हुई। इससे वे एक पण्डित की तलाश में लगे। पर पण्डित उन्हें कैसे मिल सकता था। वह आजकल का जमाना तो था नहीं। एक भी ब्राह्मण वेद और शास्त्र की पवित्र संस्कृत एक यवन को सिखाने पर राजी न हुआ। ... यवन को संस्कृत की शिक्षा ! शिव शिव ! सर विलियम ने बहुत बड़ी तनख्वाह का भी लालच दिया। पर उनका यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ।[18] खैर सर विलियम जोन्स ने तो जैसे तैसे पण्डित का बन्दोबस्त करके संस्कृत सीखी, यहाँ के धर्मशास्त्र और दर्शन का अध्ययन किया परंतु उनके सरीखे जिन अंग्रेज़ों ने संस्कृत का अध्ययन करके भारत के संबंध में जो धारणाएँ स्थापित कीं उससे भारत के 'स्वर्णिम अतीत' की परिकल्पना बनी। 'उसके उन्नत राष्ट्र होने के उदाहरण दिए गए उसके बाद जो ह्रास हुआ वह मुगलों द्वारा किया गया। 'अंग्रेज़ी राज भारत की तरक्की में सहायक है। इस तरह की सोच के कारण ही 'हिंदी' जनभाषा होते हुए भी एक अलग ही दिशा में चली गई। 19वीं सदी के बाद तक इन लेखकों के यहाँ देशभक्ति और राजभक्ति एक साथ मिलते हैं। अंग्रेज़ी राज का सकारात्मक अवदान ग्रहण करना जरूरी भी था क्योंकि भारत की आंतरिक संरचना में भी एक शोषणकारी व्यवस्था मौजूद थी। यूरोपीय संस्कृति के सम्पर्क से नई आधुनिक चेतना का विकास तो हुआ पर नये अवरोध भी पैदा हुए।

इसी समय स्वदेशी भाषाओं की प्रतिष्ठा के प्रयास भी किए जा रहे थे। औपनिवेशिक स्थितियों के प्रभाव से गद्य का विकास कमोवेश रूप से भारतीय भाषाओ के साहित्य में

---

18 महावीर प्रसाद द्विवेदी (प्रतिनिधि संकलन) : लेख – सर विलियम जोन्स ने कैसे संस्कृत सीखी, पृ. 110.

एक साथ ही हुआ। अंग्रेज़ों को भारत की स्थानीय भाषाएँ और बोलियाँ सीखने की आवश्यकता पड़ने लगी। आवश्यकता ने नए विश्वविद्यालयों व शिक्षा की नई पद्धतियों पर ज़ोर दिया। भारत की आंतरिक संरचना को समझने के लिए जिस गद्य का निर्माण हुआ भारतीय उससे और अधिक जागरूक व सचेत हुए।

अन्य भाषाओं में भी गद्य के विकास के साथ–साथ ही राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। हिरण्मय बनर्जी 'ईश्वरचंद विद्यासागर' की जीवनी लिखते हुए 'बंगला गद्य के स्रष्टा' के रूप में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका देखते हैं। 'उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू तक बंगला गद्य–साहित्य का अस्तित्व भी नहीं था। ... विदेशी शक्ति के आगमन से बने नए वातावरण ने साहित्यिक गद्य को जन्म दिया। ... नए प्रशासन और मिशनरियों का साझा उद्देश्य प्रदेश की भाषा का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करना था। वे बंगला गद्य पुस्तकों के बिना यह काम कैसे कर सकते थे ? ... बंगला गद्य निश्चित रूप से बंगाल पर पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का ही उत्पादन है।'[19] 18वीं सदी में फोर्ट विलियम की स्थापना पहले ही हो चुकी थी, जहाँ भारतीय भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था की गई थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ प्रशासन आ जाने के बाद मिशनरियों ने भी धर्म प्रचार के लिए गद्य का निर्माण किया। हिरण्मय बनर्जी आरंभिक बंगला गद्य, जिसमें राम राम वसु द्वारा लिखित 'प्रतापादित्य चरित', मृत्युंजम विद्यालंकार द्वारा लिखित 'हितोपदेश' और राजा राममोहन राय की पुस्तक 'वेदांत ग्रंथ' के उद्धरण देकर उनकी तुलना करते हुए यह बताते हैं कि विद्यासागर ने ही पहले पहल बंगला भाषा को नई शैली में ढाला। बंकिम चंद्र चटर्जी की टिप्पणी को उद्धृत करते हुए यह बताया गया कि ईश्वर चंद्र विद्यासागर ने संस्कृत भाषा के लम्बे शब्दों से हावी बंगला शैली का उपचार किया। उनकी शैली में भी संस्कृत शब्द थे लेकिन

---

19 ईश्वरचंद्र विद्यासागर (भारतीय साहित्य के निर्माता) : हिरण्मय बनर्जी, पृ. 52.

समझने में कठिनाई नहीं होती थी। खास तौर पर विद्यासागर की शैली मधुर और आकर्षक थीं इसी शैली को आगे चलकर शरद्चंद्र चटर्जी ने अपनाया।'[20] इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि आधुनिक 'राष्ट्र' के निर्माण में 'भाषा' को नया रूप देना जरूरी समझा गया। 'राष्ट्रीय चेतना' का सृजन भाषा के माध्यम से ही संभव था। प्रेस, अखबार, लेख और साहित्य 'भाषा' के वे रूप थे जो इस प्रक्रिया को तीव्रता और गति प्रदान कर रहे थे।

राष्ट्रीय स्वाधीनता का पहला प्रखर स्वर भी बंगला गद्य में ही मिला – 'आनंदमठ' में। नामवर सिह इस उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं कि इस उपन्यास की 'उभयनिष्ठ भावना एक ही थी देशभक्ति और लक्ष्य भी एक ही था – देशमुक्ति !'[21] लेकिन आनंदमठ विवादों से घिरा उपन्यास बन गया। साम्प्रदायिक विद्वेष और राजनीतिक वातावरण के अंतर्विरोधों के बीच फँस कर रह गया। उपन्यास की इस परिणति का कारण बंकिम की मानसिकता और वैचारिकता में आया परिवर्तन भी था। वे बंकिम ही थे जिन्होंने 'बंग दर्शन का घोषणा पत्र' तैयार किया था, जो 'बंग–दर्शन' में पहली बार अप्रैल 1872 में प्रकाशित हुआ। बंगला भाषा, साहित्य व लेखकों की चिंता करते हुए वे इसका संबंध देश की उन्नति से जोड़ते हैं। 'जो व्यक्ति बंगला भाषा में ग्रंथ रचना करते हैं या सामयिक पत्रों के प्रचार–प्रसार की ओर प्रवृत्त होते हैं उनकी बड़ी दुर्दशा है। ... अंग्रेज़ी से प्रेम करने वाले ये सुशिक्षित जन यह मानकर चलते हैं कि बंगला भाषा में उनके पढ़ने योग्य कुछ लिखा ही नहीं जा सकता।'

---

20 ईश्वरचंद्र विद्यासागर (भारतीय साहित्य के निर्माता) : हिरण्मय बनर्जी, पृ. 55, 56, 57.

21 आनन्दमठ – बंकिमचंद्र चटर्जी, पृ. 9. (उपन्यास और राजनीति)
संदर्भ : राजकमल से प्रकाशित 'आनंदमठ' में नामवर सिंह की भूमिका। जिसमें वे इस बात पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि जो उपन्यास पहले सांस्कृतिक एकता का प्रतीक बना वही उस एकता को बाद में खण्डित भी करता है।

वे यह देख रहे थे कि अंग्रेज़ी के राजभाषा होने के कारण उसका प्रभावक्षेत्र धीरे–धीरे फैल रहा है। वह 'अर्थोपार्जन' की भाषा बन गई है और सभी बौद्धिक वैचारिक काम अंग्रेज़ी में ही हो रहे हैं। वे सीधे–सीधे अंग्रेज़ या अंग्रेज़ी भाषा का विरोध भी नहीं करते हैं बल्कि यह मानते हैं कि 'भारत वर्ष की नाना जातियाँ जब तक एकमत नहीं होंगी, एक जेसी सलाह से काम नहीं लेंगी एक जैसा उद्यम नहीं करेंगी तब तक भारत वर्ष की उन्नति नहीं होगी। यह मतैक्य यह सहमति ! यह उद्यम केवल अंग्रेज़ी ही साध सकती है, क्योंकि अब संस्कृत तो लुप्त प्राय है। बंगाली, मराठी, तैलगी, पंजाबी इनकी साधारण मिलनभूति अंग्रेज़ी भाषा है।"[22]

बंकिम अंग्रेज़ों का विरोध स्पष्ट तौर पर नहीं कर पाते और 'संस्कृत' की जगह अब वे 'अंग्रेज़ी' को ही शासन की, देश की औ अन्य भाषाओ के ऊपर राज करने वाली भाषा के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार यह स्थान 'उर्दू' या फारसी कभी नहीं ले सकती थी। न ही वे 'हिन्दुस्तानी' या खड़ी बोली को इतना सक्षम पाते हैं जो देश–भाषा बन सके। बंकिम के ये विचार उस धारणा का हिस्सा थे जो धीरे–धीरे अपनी जगह बना रही थी, जो हिन्दी को हिन्दुओं से और उर्दू को मुसलमानों से जोड़ रही थी तथा 'भाषा' के साम्प्रदायिक रूप को उभार रही थी।

ऐसा नहीं था कि बंकिम शासन की 'भाषा' की मार व पीड़ा से बेखबर थे। वे पीड़ा भरे स्वर में लिखते हैं – "लेकिन बिल्कुल अंग्रेज़ बनकर रहना तो मुनासिब नहीं है। ... हम चाहे जितनी अंग्रेज़ी लिख पढ़ लें, अंग्रेज़ी हमारे लिए केवल मरे हुए शेर की खाल भर सिद्ध होगी। हम उसे पहनकर शेर की गर्जना नहीं कर सकते हैं। ... नकली अंग्रेज़ की जगह खांटी बंगाली स्पृहनीय है। अंग्रेज़ी लेखकों और अंग्रेज़ी भाषी सम्प्रदाय के बीच

---

22 बंकिमचंद्र चटर्जी – प्रतिनिधि निबंध, पृ. 23.

से खांटी बंगाली के उभरने की संभावना नहीं है। उससे तो नकली अंग्रेज़ ही पैदा होंगे। जब तक सुशिक्षित ज्ञानवान बंगाली बंगला भाषा में अपनी समूची अभिव्यक्ति नहीं करेंगे, तब तक बंगालियों की उन्नति की कोई संभावना नहीं है।"[23] औपनिवेशिक शासन का विरोध और क्षेत्रीय अस्मिता का विकास – बंकिम इससे आगे नहीं जा पाते। इसलिए बंकिम का संकीर्ण विचारधारा की ओर झुकाव कोई आश्चर्य की बात नहीं। जबकि इसके बरक्स 'हिन्दी' के साहित्यकार बंगला, मराठी या तमिल आदि भाषाओं के साहित्य से प्रेरणा लेकर साहित्य रचना कर रहे थे। वे अपने 'भाषाई–राष्ट्र' के व्यापक चरित्र को निर्मित करने का प्रयास करते हैं। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' (1936) का 'कथानक बंगला के कृत्तिवास रामायण से उठाया गया है।'[24]

सन् 1920 तक आते–आते राष्ट्रीय आंदोलन में तीव्रता आ गई। इसका प्रभाव 1920 से 1936 के बीच लिखी हिन्दी रचनाओं पर देखा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' में एक नए मनु की तलाश, सृष्टि का नवनिर्माण, निराला की 'रामशक्ति पूजा' में 'राम' का मानवीय और संघर्षशील चरित्र, प्रेमचंद कृत 'गोदान' में 'होरी' जैसे किसानों का यथार्थ आदि रचनाएँ एक ही समय में जो 'राष्ट्र' के सत्य और जनसंघर्ष को अभिव्यक्त कर रही थीं। अपनी भाषा में अपने लोगों के संघर्ष को चित्रित कर रही थीं। 'आनंदमठ' (1882) से पहले ही सन् 1860 में दीनबंधु गुप्त द्वारा लिखे गए नाटक 'नील दर्पण' की चर्चा मिलती हैं जिसमें अंग्रेज़ों के अत्याचारों के खिलाफ किसानों के संघर्षों को चित्रित किया गया है। वैसे 'आनंदमठ' से पूर्व बंकिम चंद्र 1865 में 'दुर्गेशनंदिनी' जैसा प्रौढ़ उपन्यास लिख चुके थे। जिसमें 'उस्मान पठान' के उदात्त चरित्र को चित्रित किया गया है। नामवर सिंह के शब्दों में 'दुर्गेशनंदिनी और चंद्रशेखर' आदि आरंभिक उपन्यासों में

---

23 बंकिमचंद्र चटर्जी – लेख – बंगदर्शन का घोषणा–पत्र, पृ. 23.

24 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – बच्चन सिंह, पृ. 164.

अनेक मुसलमान चरित्र अपने उज्ज्वल रूप में चित्रित हुए हैं।[25] 1868 में भारतेंदु विद्यासुंदर नाटक का अनुभव प्रकाशित करवाते हैं।[26] बंगला गद्य और पत्रकारिता का जिनकी तीव्रता से विकास हुआ उतनी ही तेजी से 'मराठी साहित्य' और पत्रकारिता ने मराठी भाषी समाज को प्रभावित किया। मराठी साहित्य में 'शिवाजी' के चरित्र को लेकर राष्ट्र की अलग–अलग सांस्कृतिक–राजनीतिक व्याख्याएं की गई। एम.जी. रानाडे ने 'शिवाजी' का गौरवमण्डन किया, जिसे वे 17वीं शती के भक्तिकाल को एक विरोध आंदोलन के रूप में चित्रित करते हैं, जिसका उद्देश्य जातिगत विषमताओं को दूर करना था। लेकिन 1895 में तिलक, केलकर और रजवाड़े ने शिवाजी की एक नितांत भिन्न छवि प्रस्तुत की जिसमे उनके गुरू रामदास को हिंदू संघर्ष वृत्ति के धर्मदूत के रूप में चित्रित किया गया था। ... इन पक्षों के प्रयास को सुमित सरकार तत्कालीन मतभेदों को अतीत में प्रक्षेपित करके दिखाने का प्रयास मानते हैं। पर इन दो पक्षों के अलावा वे एक 'तीसरी धारणा' का भी ज़िक्र करते हैं – 'जो शिवाजी को राजा के रूप में दर्शाती थी; यह धारणा ज्योतिबा फूले के गाथा–गीत (1869) में मिलती है।'[27]

उदाहरण के रूप में ज्योतिबा फूले कृत शिवाजी का 'पँवाड़ा' देखा जा सकता है। इसकी प्रस्तावना में जोतीराव गोविंदराव फूले लिखते हैं – "शिवाजी के संबंध में यह पँवाड़ा अर्थात् वीरगाथा लिखी गई है। ... यह पँवाड़ा प्राचीन यवनों और मेसर्स ग्रांड्फ, मरी आदि अंग्रेज़ लोगों के अधिकांश लिखित प्रमाणों के आधार पर लिखा गया है। इस पँवाड़े को लिखने के पीछे मेरा उद्देश्य यह है कि कुनबी, माली, महार, मातंग आदि जिन क्षत्रीयों को पाताल में ढकेल दिया गया था, अर्थात् मटियामेट कर दिया गया था, उनके काम

---

25 आनंदमठ (भूमिका) – उपन्यास और राजनीति : नामवर सिंह, पृ. 10

26 रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 251

27 सुमित सरकार : साहित्य में राष्ट्रवाद, पृ. 102.

आए। मैंने यहाँ बड़े–बड़े, लंबे–चौड़े – संस्कृत शब्दों का इस्तेमाल नहीं किया है; लेकिन जहाँ मेरा बस नहीं चला, वहाँ मैंने निर्वहन के लिए साधारण शब्दों का इस्तेमाल किया है। मैंने यहाँ यह भी प्रयास किया है कि कुनबियों को समझ में आने योग्य सरल भाषा होनी चाहिए और उनको पसंद आए उसी तर्ज में इसकी रचना की है।"[28] शिवाजी की इस वीरगाथा के अंत में ज्योतिबा '।। अभंग।।' लिखते हैं जिसमें उस समय के भारतीय राष्ट्र की आंतरिक संरचना की अलग व्याख्या मिलती है। इस 'अभंग' में वे मानते हैं देश अभी पूरी तरह से चेता नहीं है, क्योंकि जिधर देखो उधर 'ब्राह्मणशाही' है। वे देश के लोगों की आँखें खोलना चाहते हैं और उन्हें दिखाना चाहते है। कि सभी उच्च पदों पर ब्राह्मण ही उच्च अधिकारी बने बैठे हैं। चारों ओर पण्डितशाही व्याप्त है जिसमें 'कुनबियों को कोई स्थान नहीं मिला है। ब्राह्मण वर्ग जो अब तक शिक्षा देते आए हैं, शास्त्र–ग्रंथ रचते आए हैं और देश की संस्कृति की व्याख्या करते आए हैं वे वास्तव में ज्योतिबा फूले की नज़र में 'कलम के कसाई हैं।'[29] इसी तरह एक अन्य 'अभंग' में वे आश्चर्य करते हैं कि –

'सुनना वेदों का शूद्रों को बंद किया।
लेकिन पढ़ाया अंग्रेज़ों को।'

जिस भारतीय संस्कृति की अब तक व्याख्या हुई है उसमें अपने ही देश के लोगों को वंचित रखा गया। अपने लेख 'इशारा' में वे 'शूद्रादि' को यहाँ का मूल निवासी मानते हुए, एक अर्थ में अंग्रेज़ों का आना हितकारी मानते हैं और आर्यों के मूल निवासी होने व हिंदू राष्ट्रवादी अवधारणा को पूरी तरह से खारिज करते हैं। वे लिखते हैं – 'इस हिंदुस्तान देश की स्थिति के बारे में साधारण विचार करें तो हम लोगों को यह समझ में आएगा कि इस देश पर प्राचीन काल से जिन जिन लोगों ने आक्रमण किया, उनमें से

---

28 महात्मा ज्योतिबा फुले – रचनवली (प्रस्तावना), पृ. 53.

29 ज्योतिबा फुले रचनावली, भाग–2 : पवाँड़ा, छत्रपति शिवाजी राजा भोंसले का, पृ. 86.

अधिकांश लोगों का आक्रमण यहाँ के मूल निवासी शूद्रादि अतिशूद्रों के लिए लाभकारी हो रहा है। उनका आक्रमण शूद्रादि – अतिशूद्रों की स्थिति में दिन–ब–दिन सुधार का कारण ही बना है। उनके आक्रमण से ऐश्वर्यवान इस तरह की बहुत कम बातें हुई हैं। सबसे पहले ईरानी लोग, मतलब जो फिलहाल सारे हिंदुस्तान में 'आर्य' या 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध हैं, उन लोगों ने इस देश पर आक्रमण (हमला) करके अपनी बर्बरसत्ता कायम की। इस बात को प्रमाणित करने के लिए परशुराम की राजसत्ता का उदाहरण पर्याप्त है। बाद में उन्हीं लोगों ने मनचाहे प्रकार के स्वहितों को ध्यान में रखकर मनुसंहिता जैसे कानून बनवाए। उन कानूनों को विशेष आधार प्रदान करने के लिए धर्म का आधार देकर उस समय के अज्ञान रूपी घने अंधकार में डूबे हुए शूद्रादि – अतिशूद्रों में उस मनुसंहिता को प्रसारित करने में सफलता प्राप्त की।'[30] इस प्रकार मराठी भाषा में आए नवजागरण द्वारा पनपी विद्रोह की चेतना भाषिक संस्कृतियों में धर्म के आधार पर जातीय विभाजन की आलोचना कर रही थी। विद्रोह की दिशा भाषिक संस्कृतियों में धर्म के आधार पर जातीय विभाजन की आलोचना कर रही थी। बाद में इस जातीय विभाजन को तोड़ते हुए व्यापक राष्ट्र की अवधारणा का परिचय हिंदी साहित्य में छायावादी युग के रचनाकार, प्रेमचंद और अन्य प्रगतिवादी रचनाकारों के साहित्य में भी मिलता है।

इस संदर्भ में उड़ीसा में नवजागरण के अग्रदूत माने जाने वाले गोपबंधु दास (1877–1928) के विचार भी उल्लेखनीय हैं। इनका परिचय मिलता है – 'एक चिंतक, साहित्यकार, शिक्षाविद्, राजनीतिज्ञ, समाजसेवी, समाजसुधारक और देश के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी के रूप में।' इसके अलावा 1919 में इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'समाज' अखबार ने उड़िया गद्य–साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया ...।'[31] गोपबंधु दास भी ऐसा मानते

---

30 ज्योतिबा फुले रचनावली, भाग–2 : 'इशारा', पृ. 57.

31 शंभुनाथ (संपा.) : सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़, भाग–2, पृ. 995.

थे कि समाज की वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब समाज में वर्गीय और जातीय भेद समाप्त हो जाएँगे। 'अनुन्नत' वर्ग उन्नति विधायिनी समिति' में उन्होंने यही कहा – 'निम्न वर्ग के लोग समाज की नींव हैं। वे ही देश की शक्ति हैं। उनकी उन्नति के बिना राष्ट्रीय उन्नति संभव नहीं है। ... पुनः ब्राह्मण – अब्राह्मण के स्वत्व तथा अधिकार की बातों को लेकर अनेक तर्क खड़े किए जा रहे हैं। ऐसे विवादों से भारतीय समाज में ईर्ष्या तथा अनेकता फल–फूल रही हैं। कहीं–कहीं शिक्षा, सामाजिकता, राजनीतिक अधिकार को आधार बनाकर साम्प्रदायिक दल और समितियाँ सिर उठा रही हैं। विद्वेष का विष–वमन भी हो रहा है। उच्च वर्ग के लोग उच्च पदासीन व्यक्तियों से कई निम्न वर्ग के दुर्बलों पर लगातार अत्याचार की मशीन चला रहे हैं। देशी राजा तथा जमींदार चाहे देश हितैषी बनने का ढोंग करें लेकिन वे दिल से नहीं चाहते कि निम्नवर्ग की शैक्षिक उन्नति हो।'[32] 'निचली जातियों की सामाजिक स्थिति में सुधार की बात गोपाल कृष्ण गोखले (1866–1915) भी करते हैं जो समाज सुधार के काम में रानाडे के प्रमुख सहयोगी एवं मित्र थे।[33]

जातीय विभाजन सभी भाषिक समाजों में व्याप्त था। इसलिए निचली जातियों के संघर्ष का नेतृत्व करने वाले सुधारकों के लिए भाषा उतना बड़ा मुद्दा नहीं था जितना कि हिन्दू समाज में अपनी जातीय स्थिति की समस्या। दलित मुक्ति के दार्शनिक भीमराव अंबेडकर 1891–1956 समाज सुधारक और राजनेता के रूप में हिंदू समाज व्यवस्था का अध्ययन करते हैं।'[34] ध्यान देने की बात यह है कि इस व्यवस्था का विरोध करने के लिए संस्कृत के उन सभी शास्त्रों व ग्रंथों का अध्ययन करते हैं और जब जनसभाओं को सम्बोधित करते हैं तो मराठी भाषा में भाषण देते हैं। उनका उद्देश्य सभी पिछड़ी जातियों को एक

---

32 शंभुनाथ (संपा.) : सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़, भाग–2, पृ. 999.

33 वही, मराठी में हिंदी अनुवाद – भक्ति पटेल, पृ. 861.

34 शंभुनाथ (संपा.) : सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़, भाग–2, पृ. 865.

राजनीतिक शक्ति में तबदील करना था ताकि वे राष्ट्रीय राजनीति में हिस्सा ले सकें उनका मानना था कि जब तक राजनीतिक ताकत हाथ में नहीं आएगी तब तक निम्न जातियों की सामाजिक स्थिति में सुधार भी नहीं हो सकता।

'हमें एक तीसरी शक्ति के रूप में संगठित होना चाहिए, ताकि चुनाव के समय जब कांग्रेस या सोशलिस्टों के पास पूर्ण बहुमत न हो तो दोनों को ही हमारे पास मतों के लिए भीख माँगने आना पड़े। ऐसे समय में हम दोनों पक्षों के बीच शक्ति संतुलन का काम कर सकेंगे तथा अपनी राजनैतिक और सामाजिक उन्नति के लिए उनसे कुछ शर्तें मनवा सकेंगे।'[35] यह भाषण उन्होंने लखनऊ में 25 अप्रैल, 1948, अर्थात् आज़ादी के बाद शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के पाँचवे अधिवेशन में दिया था।

असली मुद्दा राष्ट्रीय आंदोलन से पहले से भी और बाद तक यही रहा हर तरह के शोषणकारी तंत्र से मुक्ति – चाहे वह धर्म, जाति, वर्ग, भाषा अथवा भारत की राजनीतिक–आर्थिक स्थिति से जुड़ी हो मिले। भारत के शोषित वर्गों को राष्ट्रीय चेतना की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए भारतीय समाज की आंतरिक समस्याओं व संकीर्णताओं को खत्म करना ज़रूरी समझा गया। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ अपने संघर्ष को मजबूत करने के लिए बाद में यह और भी ज़रूरी हो गया।

इन औपनिवेशिक स्थितियों के परिणामस्वरूप, अंग्रेज़ों की अपनी आवश्यकता के कारण और प्रिंटिंग प्रेस के आने से एक साथ लगभग सभी भारतीय भाषाओं में गद्य लिखा जाने लगा। लेकिन इस गद्य की दिशा और दृष्टि ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में योगदान दिया। सभी भाषाओं के गद्य में जो समान बात थी वह थी जनसामान्य में प्रचलित भाषा का प्रयोग। व्यावहारिक आम बोलचाल की भाषा को साहित्य की भाषा बनाना जरूरी

---

35 वही, लेख – सामाजिक उन्नति की सर्वकुंजी राजनीतिक शक्ति, पृ. 885.

समझा गया। सभी भाषाओं में जो 'परम्परागत आभिजात्यपन' है उससे मुक्त कर भाषा को नया आधुनिक रूप देने की चेष्टा की गई।

तेलुगु के प्रसिद्ध नाटककार, कवि, कथाकार गुरजाडा वेंकट अप्पाराव (1865–1915) भी साहित्य में यही काम कर रहे थे। 'शुल्क लेकर कन्या का विवाह करने की परम्परा का विरोध करते हुए एक महाकाव्यात्मक नाटक (1897) 'कन्याशुल्कम्' लिखा। इस नाटक के पहले संस्करण की भूमिका में वे लिखते हैं – 'इस नाटक को मैंने बोलचाल की भाषा में लिखा है। ऐसा क्यों किया ? नाटक देखने वाली साधारण जनता को यह अच्छी तरह समझ में आएगा ...। कुछ लोग कहते हैं कि ग्राम्य भाषा (यह नामकरण ही गलत है) के प्रयोग से साहित्य का महत्व कम हो जाएगा।' ... आगे वे साहित्यिक भाषा के मूल्यांकन के नए मानदण्डों की बात करते हैं और आलोचना की परवाह किए बगैर यह बताते हैं कि 'तेजुगु की ग्रंथभाषा (ग्रंथों की शिष्ट भाषा) में पुराने व्याकरणबद्ध रूपों, अप्रचलित शब्द–जाल एवं तकलीफदेह वाक्य विस्तार होता है। संस्कृत शब्दों के निरंतर प्रयोग की स्वच्छंदता को कवियों ने बेसब्री से प्रयोग कर, पाठकों को शब्दकोशों पर आश्रित होने के लिए विवश कर दिया। ऐसे दीर्घ समासों का प्रयोग होता था, जिनकी दूर–दूर तक कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार ग्रंथभाषा को दोनों तरफ से मृत भाषा बना दिया गया। ... अगर रचनाकार ठान लें, तो एक नई साझी भाषा को आसानी से रूप दिया जा सकता है।[36] इसी नाटक के दूसरे संस्करण (1909) की भूमिका में वे इस नयी भाषा का सारा श्रेय अंग्रेज़ों को देते हैं – विदेशियों ने व्यावहारिक तेलुगु भाषा की मृदुलता, भावाभिव्यक्ति में विस्तार आदि विशिष्टताओं को महत्व दिया। ... तेलुगु में गद्य रचना का प्रारंभ और विकास राजाओं के आश्रय या विदेशी साहित्य के प्रभाव से नहीं हुआ। यह

---

36 शंभुनाथ (संपा.) : लेख – सामाजिक उन्नति की सर्वकुंजी राजनीतिक शक्ति, पृ. 1038.

आश्चर्यजनक लग सकता है किंतु एक अंग्रेज व्यक्ति के कारण यह हुआ। उन्होंने पिछली शताब्दी के पहले दशक में व्यावहारिक भाषा में प्रदेशों का इतिहास गद्य में लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।[37] विभिन्न प्रांतीय भाषाओं के साहित्य में जहाँ अनेक प्रकार के सुधार आंदोलनों का प्रभाव और इसके कारण नई राष्ट्रीय संस्कृति का परिचय मिल रहा था वहीं इनमें स्वतंत्र क्षेत्रीय पहचान विकसित करने की माँगें भी उठने लगी थीं। जैसा कि सुमित सरकार बताते हैं कि भाषाई आधार पर आँचलिक भावनाओं का विकास भी इसी दौरान होने लगा था, जोकि युवाओं के लिए अधिक नौकरियों की माँग से जुड़ी होती थीं। आधुनिक भारत के इतिहास में इसका सबसे पहला उदाहरण वे देते हैं। "1911 के आसपास मद्रास के आंध्र जिलों में एक अलग प्रदेश की माँग उभरने लगी थी। ... सेवाओं में तेलुगु भाषियों को प्रतिनिधित्व न मिलने के कारण ऐसा होने लगा था। ... गुंटुर के 'देशाभिमानी' जैसे समाचार–पत्रों ने और आंध्रलाचरित्रम् जैसी रचनाओं ने इन शिकायतों को मुखर किया। ... मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की माँगें भी इसी समय उठने लगीं।[38] भाषा के आधार पर एक अलग राज्य की माँग केवल आंध्र में ही उभरकर सामने आई थी ... लेकिन मलयालम भाषा समाज सुधार और देशभक्ति का सशक्त माध्यम बन चुकी थी। उदाहरण के रूप में सुमित सरकार प्रसिद्ध मलयालम कवि 'कुमारण आशान' के विचार रखते हैं 'इझवा कवि कुमारन आशान ने 1908 में लिखा था – ओ माँ ! दासता तो मेरी नियति है। जाति के गर्व में अंधे हुए तेरे बेटे आपस में ही लड़कर मर खप रहे हैं, फिर स्वाधीनता किसलिए ?'[39]

---

37 शंभुनाथ (संपा.) : लेख – सामाजिक उन्नति की सर्वकुंजी राजनीतिक शक्ति, पृ. 1040.

38 सुमित सरकार : आधुनिक भारत का इतिहास, पृ. 181.

39 वही, पृ. 39.

कुमारन आशान (1873–1924) नारायण गुरु के शिष्य थे और केरल के समाज सुधारक। नारायण गुरु (1856–1926) भी केरल के प्रसिद्ध समाज सुधारक और जाति प्रथा के जबर्दस्त विरोधी थे। केवल जातिवाद ही नहीं उन्होंने धर्मों के संबंध में व्यापक दृष्टिकोण को स्थापित किया। 1916 में 'देशाभिमानी' पत्रिका में उनका भाषण प्रकाशित हुआ – 'अभी जितने धर्म प्रचारित हैं, उनमें किसी से भी मेरा कोई संबंध नहीं है सभी धर्म मेरे लिए आदरणीय हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करे। वे धार्मिक संकीर्णता का विरोध करते थे। इन्हीं के प्रभाव से कुमारन आशान ने भी देश भर में निम्न जातियों के सुधार, आंदोलनों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए केरल क्षेत्र में सुधार किए।'[40] इस प्रकार राष्ट्रीय पहचान और जातीय पहचान के प्रति सजग बनाने का काम साथ साथ चलता रहा। इन जातीय पहचानों को निर्मित करने में साधारण–जन की भाषा में साहित्य रचना, शिक्षा और कामकाज की कोशिशें की गईं हैं। एक ही भाषा को बोलने वालों के बीच विभिन्न धार्मिक व वर्गीय भेदों को समाप्त करने के भी भरसक प्रयास हुए। अपनी जातीयता के प्रति गर्व का भार और भाषा के प्रति सम्मान कहीं न कहीं व्यापक राष्ट्रीय चेतना निर्मित करने में सफल हुआ।

पंजाब में देसी भाषाओं के प्रेस की लोगों में राजनीतिक चेतना जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सिख पूजा स्थलों में सुधार के लिए सिखों का संघर्ष गुरुद्वारों में प्रचलित कुप्रथाओं के खिलाफ और उसके सरबराहों को बर्तानवी सरकार द्वारा दिए जा रहे संरक्षण के खिलाफ एक दो तरफ़ा प्रतिक्रिया थी। देसी भाषाओं के प्रेस ने आंदोलन की ओर सिख संगत का ध्यान खींचने और सिख जनता का समर्थन पाने के लिए उसके बीच इस आंदोलन को लोकप्रिय बनाने के प्रयास किए।

---

40 शंभुनाथ (संपा.) : सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़, भाग–2, पृ. 1051–1062.

खालसा, खालसा समाचार, परदेसी खालसा, अकाली ते परदेसी, संसार, द पंच, पंजाब दर्पण, खालसा ते खालसा एडवोकेट जैसे गुरुमुखी समाचारपत्र अकालियों के समर्थन में सामने आए। इन पत्रों ने सिखों की धार्मिक भावनाओं पर विशेष ध्यान दिया।[41] इस लेख में देसी प्रेस की उस समय दो महत्वपूर्ण भूमिकाएँ इंगित की गई हैं – एक गुरुद्वारा सुधार आंदोलनों के लिए जनता का आह्वार और दूसरे देसी भाषा पत्रों के माध्यम से राष्ट्रवादी नेताओं का पैग़ाम सिखों तक पहुँचाया।[42] 'देसी भाषा प्रेस ने अकाली नेतृत्व और सिख जनता के बीच कड़ी का काम किया।'

अकाली दल और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी जैसे जैसे पंजाब के राजनीतिक परिदृश्य में उभरे तब भाषिक पहचान के सवाल भी उठाये गए। हिंदी उर्दू के झगड़े का फैलाव पंजाब में हुआ जिसमें पंजाबी भाषा और लिपि की समस्या का प्रश्न सामने आया। पंजाब क्षेत्र में ये तीनों भाषाएँ सहजता से बोली जाती थीं। पंजाब में भाषा और लिपि की समस्या देश के अन्य क्षेत्र में उमड़ रही साम्प्रदायिक राजनीतिक चेतना के असर से ही पैदा हुई।

पॉल ब्रॉस पंजाब में भाषा की समस्या का विश्लेषण करते हुए राजनीतिक चेतना के विकास का इतिहास बताते हैं – '1920 में सिक्खों ने अपनी अलग आधुनिक क्रांतिकारी पहचान बनाई जोकि गुरुद्वारा सुधार आंदोलनों के परिणामस्वरूप विकसित हुई। सन् 1920–25 के दौरान जब गुरुद्वारों में भ्रष्ट हिन्दू महंतों के कब्जे से भ्रष्टाचार बढ़ने लगा तो उनके चंगुल से गुरुद्वारों को मुक्त करने के लिए सिक्ख विद्रोहियों ने क्रांतिकारी आंदोलन किये। तब 1925 में सिक्ख गुरुद्वारा ऐक्ट निर्मित किया गया। यहीं से सिक्खों

---

41 इतिहास और विचारधारा : खालसा के तीन सौ साल – सम्पादक जे.एस. ग्रेवाल, इंदुबंगा, कमलजीत गिल – अकाली आंदोलन और देसी भाषाओं का प्रेस, पृ. 191.

42 वही, पृ. 192, 193, 195.

में अलग साम्प्रदायिक राजनीतिक चेतना का विकास हुआ। गुरुद्वारा सुधार आंदोलन ने अपना राजनीतिक चरित्र विकसित किया। गुरुद्वारों की देखरेख और प्रबंध के लिए शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी बनाई गई। 'अकाली दल' का विकास इसी कमेटी में से हुआ। प्रबंधक कमेटी और अकाली दल ने अपने को केवल सिक्खों तक सीमित रखा और प्रबंधक कमेटी के प्रबंधकों के निर्वाचन के समय केवल सिक्खों को ही चुनाव प्रक्रिया में सम्मिलित किया। इससे सिक्खों और हिंदुओं के बीच एक विभाजन रेखा खिंच गई।'[43] सिक्खों और हिंदुओं के बीच अलगाव पैदा करने वाली यह राजनीति भाषा और लिपि के विवाद पर और भी फलीफूली। जैसा कि आगे पॉल ब्रॉस पंजाब की भाषाई स्थिति का ब्यौरा देते हुए बताते हैं कि 'पंजाब प्रोविन्स में अंग्रेज़ों के समय भाषिक स्थिति कुछ इस प्रकार से थी – उत्तर पश्चिम के मुस्लिम बहुल इलाकों में लहँदा बोली जाती थीं वास्तव में यही वहाँ के लोगों की मातृभाषा थी – जिसके लिए किसी ने आवाज़ ही नहीं उठाई। जहाँ हिन्दू और सिक्ख समुदाय दोनों रहते थे। पंजाब के मध्य भाग के जिलों में पंजाबी बोली जाती थी और हिंदुत्व के प्रमुख वाले पूर्वी क्षेत्रों के जिलों में हिंदी मातृभाषा थी। राजकाज की भाषा इस प्रोबिन्स में अंग्रेजी और उर्दू थी जबकि उर्दू वहाँ किसी भी प्रभुत्वशाली समूह की मातृभाषा नहीं थी, न ही किसी अभिजात्य समूह ने लहँदा के प्रति कोई रुझान दिखाया। आधुनिक भाषाई आंदोलनों में लहँदा के लिए कभी किसी भी समुदाय ने आवाज़ नहीं उठाई – परिणामस्वरूप इसका कोई लेखाजोखा नहीं मिला और यह पाकिस्तान की पंजाबी में जा मिली।

भारत में पंजाब क्षेत्र में भाषा के मसले पर दो स्तरों पर आंदोलन हुए – एक, मातृभाषा या स्थानीय भाषा का आंदोलन जो स्कूलों में शिक्षा की भाषा और अदालतों

---

43 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 238.

में से उर्दू व अंग्रेज़ी को हटाने के लिए किया गया। दूसरे स्तर पर आंदोलन दो प्रमुख मातृभाषाओं – हिंदी और पंजाबी के बीच वर्चस्व की लड़ाई और प्रतिस्पर्धा का था।

स्वतंत्रता से पूर्व हिन्दी के साथ–साथ उर्दू का भी विरोध किया गया जबकि स्वाधीनता के बाद यह संघर्ष सिर्फ हिन्दी और पंजाबी के बीच रह गया। इसी संघर्ष के आधार पर अलग पंजाबी सूबे (प्रांत) के आंदोलन को खड़ा किया गया।[44] भारत के कुछ क्षेत्रों में अगर धार्मिक अलगाव के माध्यम से राजनीति फलफूल रही थी तो कुछ क्षेत्रों में जहाँ धार्मिक अलगाव पैदा करना आसान नहीं था वहाँ 'भाषा' एक सशक्त माध्यम बनी। पंजाब में भाषा से भी बड़ी समस्या 'लिपि' की बनी। हिन्दी उर्दू के विवाद की हवा पंजाब में भी बही जिसकी चपेट में अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी आ गईं। यहाँ भगतसिंह के दस्तावेज़ों में से उनका लेख 'पंजाब की भाषा तथा लिपि की समस्या' उल्लेखनीय होगा, जो उन्होंने सन् 1924 में लिखा था। इस लेख में भगतसिंह ने भाषा को मज़हबी रंग देने वालों का खण्डन करते हुए पंजाब की स्थानीय भाषाओं के माध्यम से हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में विकसित करने की बात कही है। अंग्रेजी के औपनिवेशिक चरित्र का उद्‌घाटन कर गुरुमुखी लिपि की आवश्यकता का इतिहास दिया और तत्कालीन संदर्भों में 'हिंदी की लिपि को अपनाने पर ज़ोर दिया। किसी भी भाषा का विकास उसके साहित्य के माध्यम से होता है और देश की स्वाधीनता के लिए यह कितना ज़रूरी है कि 'हिन्दी और पंजाबी' में एक साथ मिलकर साहित्य का विकास किया जाए यह बात भगतसिंह जैसे क्रांतिकारी ने बड़ी संजीदगी के साथ महसूस की। इस संदर्भ में उनके विचारों को जस का तस उद्धृत करना उचित होगा – अपनी देशभाषा में साहित्य के माध्यम से कैसे जागृति पैदा की जा सकती है, इसके लिए वे विश्व के अन्य देशों का उदाहरण देते हैं जहाँ उनके राष्ट्रीय

---

44 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पालिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 283–290.

चरित्र को विकसित करने में देशभाषा के साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। "... आयरलैण्ड के पुनरुत्थान के साथ गैलिक भाषा के पुनरुत्थान का प्रयत्न भी उसी वर्ग से किया गया। शासक लोग आयरिश लोगों को दबाये रखने के लिए उनकी भाषा का दमन करना इतना आवश्यक समझते थे कि गैलिक भाषा की एकाध कविता रखने के कारण छोटे–छोटे बच्चों तक को दण्डित किया जाता था। रूसो, वाल्टेयर के साहित्य के बिना 'फ्राँस' की राज्यक्रांति घटित न हो पाती। यदि टालस्टाय, मार्क्स तथा मैक्सिम गोर्की इत्यादि ने नवीन साहित्य पैदा करने में वर्षों व्यतीत न कर दिए होते तो रूस की क्रांति न हो पाती, साम्यवाद का प्रसार तथा व्यवहार तो दूर रहा।' ... और भारत में इन उदाहरणों के समकक्ष वे कबीर और गुरुनानक के साहित्य की भूमिका को देखते हैं जिन्होंने सामाजिक धार्मिक सुधारों में अपने मत के प्रचार के लिए अपनी भाषा में साहित्य रचा।[45] पंजाब की वर्तमान स्थिति में भाषा विवाद कैसे रुकावटें पैदा कर रहा है ? वे इस समस्या की पड़ताल ही नहीं करते इसके समाधान के साथ लिखते हैं – 'पंजाब प्रांत में भाषा को मज़हबी समस्या बना देने' के कारण न भाषा का विकास हो पा रहा है, न साहित्य का। ... सिक्खों का साहित्य गुरुमुखी लिपि में है। भाषा में अच्छी–खासी हिंदी है, परंतु मुख्य पंजाबी भाषा है। इसलिए सिक्खों ने गुरुमुखी लिपि में लिखी जाने वाली पंजाबी भाषा को ही अपना लिया। वे उसे किसी तरह छोड़ न सकते थे। वे उसे मज़हबी भाषा लाकर उससे चिपट गए।[46]

भगत सिंह हिन्दी के बढ़ते हुए प्रभाव को भी देख रहे थे। हिन्दी मज़हब के जिस संकीर्ण दायरे में बँध गई, उसके लिए पंजाब में आर्यसमाज की भूमिका रही। 'हिंदी भाषा

---

45 जगमोहन सिंह, चमनलाल (संपा.) : भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़, लेख : विचारों का प्रस्फुटन, पृ. 58.

46 वही, पृ. 60, 61.

आर्यसमाज का एक धार्मिक अंग बन गयी। धार्मिक अंग बन जाने से एक लाभ तो हुआ कि सिक्खों की कट्टरता से पंजाबी की रक्षा हो गयी और आर्यसमाजियों की कट्टरता से हिन्दी भाषा ने अपना स्थान बना लिया।' ... लेकिन आर्यसमाज जिस संकीर्णता की ओर बढ़ता गया उससे परस्पर धार्मिक विद्वेष को और भी बढ़ावा मिला। 'सत्यार्थ प्रकाश' के किन्हीं दो एक वाक्यों के कारण आपस में मनोमालिन्य बहुत बढ़ गया और एक दूसरे से घृणा होने लगी।इसी प्रवाह में बहकर सिक्ख लोग हिंदी भाषा को भी घृणा की दृष्टि से देखने लगे।[47] ... पंजाब में भाषा के संबंध में तीन मत बन गए जिनका उल्लेख भगतसिंह करते हैं और तीनों का आधार 'धर्म' था – 'मुसलमानों का उर्दू संबंधी कट्टर पक्षपात, दूसरा आर्य समाजियों तथा कुछ हिंदुओं का हिंदी सम्बन्धी, तीसरा पंजाबी का।'[48] इस कट्टरता को बहुत बड़ी बाधा मानते हुए भारत को एक राष्ट्र बनाने की चिंता भगतसिंह को थी। उर्दू राजभाषा थी लेकिन वे बार–बार भाषा के संबंध में 'विशाल दृष्टिकोण' की मांग करते हैं। इस पर अंग्रेज़ी के प्रभुत्व का सामना करने के लिए भी अपनी भाषा के विकास को आवश्यक मानते थे।

'समस्त देश में एक भाषा, एक लिपि, एक साहित्य, एक आदर्श और एक राष्ट्र बनाना पड़ेगा, परंतु समस्त एकताओं से पहले एक भाषा का होना जरूरी है, ताकि हम एक दूसरे को भली–भांति समझ सकें। एक पंजाबी और एक मद्रासी इकट्ठे बैठकर केवल एक दूसरे का मुँह ही न ताका करें, बल्कि एक दूसरे के विचार तथा भाव जानने का प्रयत्न करें, परन्तु यह पराई भाषा अंग्रेज़ी में नहीं बल्कि हिंदुस्तान की अपनी भाषा हिंदी में।'[49] राष्ट्र भाषा के रूप में हिन्दी का पक्ष लेते हुए भी वे पंजाब के सर्वसाधारण के विकास के लिए

---

47 जगमोहन सिंह, चमनलाल (संपा.) : भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़, लेख : विचारों का प्रस्फुटन, पृ. 62–64.

48 वही, पृ. 62–64.

49 वही, पृ. 58.

पंजाबी भाषा के साहित्य के विकास को आवश्यक मानते थे। पंजाबी भाषा लेकिन लिपि हिंदी की देवनागरी को अपनाने के लिए कहते हैं। गुरुमुखी लिपि की सीमाओं का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं – जब हमारे सामने वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्भर स्वांगसम्पूर्ण हिंदी लिपि विद्यमान है, फिर उसे अपनाने में हिचक क्या ? गुरुमुखी लिपि तो हिंदी अक्षरों का ही बिगड़ा हुआ रूप है। ... पंजाब की हिंदू स्त्रियाँ इसी लिपि से परिचित हैं ... हिंदी भाषा ही अंत में समस्त भारत की एक भाषा बनेगी ... हिंदी लिपि के अपनाने से ही पंजाबी हिंदी की सी बन जाती है। ... पंजाबी भाषा के हिंदी लिपि में लिखे जाने पर और उसके साहित्य बनाने के प्रयत्न में निश्चय ही वह हिंदी के निकटतर आ जायेगी।[50]

भगतसिंह का यह स्वप्न पूरा न हो सका। भाषा और लिपि की समस्या राजनीतिक हवा में और फलीफूली। यह कभी समस्या थी ही नहीं जिसे समस्या का रूप दिया गया। लोगों की अलग धार्मिक, सामुदायिक व भाषिक पहचान बनाकर उन्हें अलग करना एक समस्या थी जोकि वास्तव में कभी अलग किए ही नहीं जा सके। इस बात का पता पॉल ब्रास के इस कथन से लगता है – 'पंजाब की भाषा–समस्या पर शोध करते हुए वे लिखते हैं, 'पंजाब क्षेत्र जो कि वास्तव में द्विभाषी क्षेत्र था, जिसे भाषा के आधार पर दो भागों में बाँटने के भी प्रयास किए गए। तब यह तर्क दिया गया कि पंजाबी पूरे क्षेत्र की मातृभाषा है। लेकिन इस बात के अभी तक प्रमाण नहीं मिलते कि पंजाब में विभिन्न धार्मिक समुदायों की विभिन्नता होते हुए भी सबकी भाषा पंजाबी ही है या विभिन्न धर्मों को मानने वाले अलग–अलग मातृभाषाओं का प्रयोग करते हैं।'[51]

---

50 जगमोहन सिंह, चमनलाल (संपा.) : भगत सिंह और उनके साथियों के दस्तावेज़, लेख : विचारों का प्रस्फुटन, पृ. 62–64.

51 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 291.

यह बात विचारणीय है कि केवल उत्तर भारत में भाषा धर्म का पर्याय बनी – हिंदी और हिन्दू एक दूसरे के पर्याय मान लिए गए। यह एकदम से या अचानक नहीं हुआ। इसके ठोस कारण भारत की सामाजिक व आंतरिक संरचना में मौजूद थे। जातिवाद, ब्राह्मणवाद, और वर्गीय भेदभावों के आधार पर सामाजिक–राजनीतिक परिस्थितियों के इतिहास को देखा जाना चाहिए। अन्य क्षेत्रों में जहाँ भाषा के आधार पर सांस्कृतिक अस्मिता को गठित किया गया वहाँ ऐसे प्रयास किए गए।

(ii) सामासिक संस्कृति और भाषिक भिन्नता

राष्ट्रीय आंदोलन की भूमिका सिर्फ राजनीतिक स्वायत्तता या सत्ता हासिल करने तक सीमित नहीं थी। अपने इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को स्वरूप प्रदान करना आवश्यक था। इसलिए भारत की नवीन सांस्कृतिक व्याख्या आवश्यक थी जिसमें भारत की सांस्कृतिक बहुलता के प्रति व्यापक दृष्टिकोण विकसित हो सके। विभिन्न भाषिक संस्कृतियों में परस्पर समन्वय और एकजुटता का भाव जागृत करना ज़रूरी था। साधारण जनता में इस चेतना का विकास शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता था। शिक्षा के माध्यम की भाषा, नौकरियों का सवाल और देश की सांस्कृतिक व्याख्या का प्रश्न परस्पर एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसमें सत्ता का हस्तक्षेप किस प्रकार से होना चाहिए यह एक अहम् सवाल है। जो साम्प्रदायिक तनावों और निम्न अलगावों को खत्म करके सामाजिक संस्कृति का विकास करे ! श्यामाचरण दुबे अपने लेख संस्कृति और सत्ता में शिक्षा की इसी भूमिका की ओर संकेत करते हैं – 'राज्य के अनेक निर्णय और उनसे जुड़ी नीतियाँ उस भूमि का स्पर्श नहीं करते जो संस्कृति की परिसीमित व्याख्या क्षेत्र में आती है। शिक्षा को एक स्वतंत्र और स्वायत्तताशाली क्षेत्र माना जाता है, पर संस्कृति से उसका गहरा संबंध है। आधुनिक शिक्षा कई तरह से परम्परा के क्षेत्र का अभिक्रमण करती है। शिक्षा नये जीवन मूल्य देती है, नयी क्षमताएँ देती है और परम्रा के कई पक्षों के पुनर्परीक्षण की प्रेरणा बनती है। शिक्षा का स्वरूप अतीत, वर्तमान और भविष्य के संबंध में हमारा दृष्टिकोण निर्धारित करता है। लोक व्यापी शिक्षा, दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक संरचना के स्वरूप और उसकी प्रकृति को बदलती है। शिक्षा का प्रभाव लोकरुचियों और व्यक्तिगत अभिरुचियों पर भी पड़ता है। स्पष्ट है कि शिक्षा संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप है। आज के समाज में शिक्षा को राज्य का महत्वपूर्ण

उत्तरदायित्व माना जाता है।[52]

विभिन्न भाषाएँ और उनकी सांस्कृतिक भिन्नता भारत की राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में बाधा बन सकती है। इसलिए सामासिक संस्कृति की व्याख्या करना आवश्यक था। 'अंग्रेज़ी' शिक्षा के बढ़ते प्रभाव का सामना करने के लिए भी यह जरूरी था। 'भारत के लोगों को कैसी शिक्षा दी जाए ?' इस प्रश्न का जवाब देते हुए गाँधी ने 'हिन्द स्वराज्य' में (1909) लिखा था – 'हमें अपनी सभी भाषाओं को उज्ज्वल व शानदार बनाना चाहिए। हमें अपनी भाषा में ही शिक्षा लेनी चाहिए। ... जो अंग्रेजी पुस्तकें काम की हैं, उनका हमें अपनी भाषा में अनुवाद करना होगा। ... हर एक पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा का, हिन्दू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिन्दी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिंदुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहियें उत्तरी और पश्चिमी हिन्दुस्तान के लोगों को तमिल सीखनी चाहिए। सारे हिन्दुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए, वह तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिंदू–मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिंदुस्तानियों का इन दिनों लिपियो को जान लेना ज़रूरी है। ऐसा होने से हम आपस के व्यवहार में अंग्रेज़ी को निकाल सकेंगे।[53] गुलामी को खत्म करने के लिए गाँधी को यह सबसे पहला और ज़रूरी काम लगा। भाषा ही हमारी मुक्ति का माध्यम बन सकती है।

'हिंदी भाषा' को प्रोत्साहित करने का काम लगभग सभी प्रमुख गुटों व राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय संगठनों ने किया। विख्यात आर्यसमाजी नेता, पंजाब के राजनीतिज्ञ

---

52 श्यामाचरण दुबे – परम्परा इतिहासबोध और संस्कृति, पृ. 80.

53 महात्मा गाँधी – हिन्दी स्वराज्य, पृ. 76.

लाला लाजपत राय ने भी 'हिन्दी' को ही राष्ट्रभाषा बनाने की बात कही। वे स्वयं, वास्तव में हिन्दी के एक अक्षर से भी परिचित नहीं थे परंतु हिन्दी–उर्दू विवाद की इस राजनीति में प्रवेश करते हैं और हिन्दी का समर्थन करते हैं। उनका यह मानना था कि भारतीय राष्ट्रवाद की नींव का आधार हिंदी भाषा ही बन सकती है। राजनीतिक एकल के लिए उन्होंने हिंदी और देवनागरी के विकास को आवश्यक माना।[54]

प्रेमचंद के बारे में भी यही बात कही जाती है कि वे पहले उर्दू में लिखा करते थे परंतु जब उर्दू के प्रकाशक मिलना बंद हो गए तब उन्होंने हिंदी में लिखना शुरू कर दिया। वे अपने समग्र कथा साहित्य की हिंदुस्तानी भाषा में ही रचना करते हैं। इसका एक कारण यह भी था कि 'राष्ट्रीय कांग्रेस और गाँधी के विचारों का प्रेमचंद पर काफी प्रभाव था। जो कि उस समय 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्र भाषा बनाने की बात करते हैं। हिंदुस्तानी भाषा में साहित्य प्रेमचंद के कारण काफी फलाफूला। साहित्य का समाज और राजनीति से सरोकार और हिन्दू–मुस्लिम की सामासिक संस्कृति का परिचय प्रेमचंद के कथ्य साहित्य में ही पहले पहल पाया जाता है। नवम्बर सन् 1935 में प्रेमचंद 'भारतीय साहित्य और पण्डित जवाहरलाल नेहरू' नामक लेख लिखते हैं। 'हंस' की विचारधारा और उद्देश्य और जवाहरलाल नेहरू के लेख में अभिव्यक्त विचारों में चिंतन की जो साम्यता मिलती है उससे उत्साहित होकर प्रेमचंद ने यह लेख लिखा। साहित्यिक सांस्कृतिक एकता को राष्ट्र के विकास का प्रमुख अंग मानते हुए प्रेमचंद ने इस लेख में जो चिंताएं जाहिर की हैं उसमें पता चलता है कि हिंदी साहित्यकार और प्रबुद्धवर्ग – सामासिक संस्कृति के निर्माण के लिए सजग हो रहा था। प्रेमचंद मानते हैं कि 'हिंदी प्रांतों में राजनीतिक जागृति देर में हुई और भाषा भेद के कारण हम दूसरे प्रांतों की जागृति से जल्द फायदा नहीं उठा

---

54 पॉल आर. ब्रास – लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, 287.

सके' ... भारत की जो भाषाएं उन्नत समझी जाती हैं वह भी संसार की उन्नत भाषाओं की तुलना में नगण्य हैं। ... आज भी अंग्रेज़ी के प्रति हमारा मोह अणुमात्र भी का नहीं है। ... प्रांतीय भाषाओं में आदान प्रदान का क्रम हिंसा हो गया है और राष्ट्र का साहित्य मानो अलग अलग कोठरियों में बंद होकर मुक्त वायु और प्रकाश न पाने के कारण दुर्बल और निर्जीव और निस्तेज होता चला गया।"[55]

देश की राजनीति, हिंदी और अन्य प्रांतीय भाषाओं के परस्पर संबंध के प्रति ऐसी सजगता इसी समय उत्पन्न हुई। इस समय सबसे बड़ी दिक्कत अन्य प्रांतीय भाषाओ और हिंदी के परस्पर संबंध को लेकर नहीं थी जितनी उर्दू और हिंदी के बीच बढ़ रहे साम्प्रदायिक अलगाव और तनाव को लेकर थी। सामाजिक–संस्कृति की जब बात की जाती तो हिन्दू–मुस्लिम एकता का मुद्दा प्रमुख होता – बल्कि जातीय–वर्गीय भेदों के अलावा देश की भाषाओं और उनके साहित्य के परस्पर आदान–प्रदान और विकास के माध्यम से ही भारतीय राष्ट्र की पहचान बनाई जा सकती हे, ऐसा प्रेमचंद का विश्वास था। – "हिंदी और उर्दू तो बहनें नहीं हैं, एक ही शरीर पर दो चेहरे हैं। उनका तो हमें करीब से करीब संबंध करना है। बंगला, मराठी और गुजराती हिंदी की छोटी बहनें हैं, दक्षिण की भाषाएं हमारे देश की सबसे पुरानी हैं। इसके अलावा और भी भारत की छोटी और बड़ी भाषाओं को इस संस्था में लेना चाहिए। मैं तो यह भी सिफारिश करूँगा कि अंग्रेज़ी की भी उसमें जगह हो। हमारी वह भाषा नहीं हे, लेकिन फिर भी देश के जीवन में उसका बड़ा हिस्सा है। वह एक तरह की सौतेली भाषा हो गयी है ...।" अंग्रेज़ी की स्थिति को स्वीकार करते हुए प्रेमचंद भारतीय भाषाओं की चिंता भी करते हैं – 'अंग्रेज़ी की दया की भिखारिणी बनी हुई है।"[56]

---

55 प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार, पृ. 105.

56 वही, पृ. 106.

हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं, खासकर दक्षिण भारत की भाषाओं के बीच जो दूरी है, उसे दूर करने के लिए प्रेमचंद के समय जो राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियाँ थीं उनका भी प्रेमचंद ज़िक्र करते हैं। दक्षिण भारत मे हमारी 'हिन्दी प्रचार यात्रा' नामक लेखक में प्रेमचंद इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिन्दी या हिंदुस्तानी दक्षिण भारत के लिए विदेशी भाषा के समान है। ... दक्षिण के साहित्य में ऐसी कितनी ही चीज़ें होंगी जिन्हें हिन्दी में लाकर उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करेंगे।"[57] वैसे यह बात विचार की है कि दक्षिण में हिन्दी के व्यवहार और प्रसार की चिंता की गई लेकिन उत्तर भारत में दक्षिण भारत की भाषाओं और साहित्य में कितनी दिलचस्पी ली गई, इस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। सरकार और राजनीति के इस रवैये के कारण ही परस्पर भेद कहीं न कहीं बना रहा।

सामासिक संस्कृति भारतीय राष्ट्र के निर्माण की आवश्यकता है, ऐसा राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआत में ही उसका नेतृत्व करते हुए गाँधी ने महसूस किया। भाषा को राष्ट्र और देश की प्रमुख पहचान बनाकर ही उसका विकास किया जा सकता है, जब तक एक भाषा हमारे पास नहीं होगी तब तक हमारे विचार एक नहीं हो पाएँगे – ऐसा गाँधी ने अपने कई भाषणों में कहा। 'अगर हमें एक राष्ट्र होने का अपना दावा सिद्ध करना है, तो हमारी अनेक बातें एक ही होनी चाहिए। भिन्न–भिन्न धर्म और सम्प्रदायों को एक सूत्र में बांधने वाली हमारी एक सामान्य संस्कृति है। हमारी त्रुटियां और बाधाएँ एक सी हैं। मैं यह बताने की कोशिश कर रहा हूँ कि हमारी पोशाक के लिए एक ही तरह का कपड़ा न केवल बांछनीय है, बल्कि आवश्यक भी है। हमें एक सामान्य भाषा की भी जरूरत है – देशी भाषाओं की जगह – पर नहीं परंतु उनके सिवा। इस बात में साधारण सहमति है कि यह

---

57 प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार, पृ. 298.

माध्यम हिन्दुस्तानी ही होना चाहिए जो हिन्दी और उर्दू के मेल से बने। और जिसमें न संस्कृत की ओर, न फारसी या अरबी की ही भरमार हो।'[58] इसके साथ ही वे अनेक भाषाओं की लिपियों की जगह एक सामान्य लिपि जिसमें सभी भाषाओं को पढ़ा लिखा जा सके की संभावना को अभिव्यक्त करते हैं। प्रांतीयता के दायरे से बाहर निकल; 'राष्ट्र' के व्यापक दायरे में हिस्सा बनने के लिए एक सामान्य भाषा और लिपि की मांग को आवश्यक माना गया।

इसके बावजूद अंग्रेज़ी एक वर्चस्वशाली वर्ग की भाषा बनती जा रही थी जिसका सामना करना भी राष्ट्रीय आंदोलन की राजनीति का हिस्सा था। इसलिए हिन्दी के साथ–साथ प्रांतीय भाषाओं को उन्नति भी आवश्यक थी। राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाला और शिक्षित समुदाय, अंग्रेजी के प्रभाव को पूरी तरह से ग्रहण कर चुका था। यह समाज के इस प्रभुत्वशाली वर्ग की जिम्मेदारी बनती थी कि वह आंदोलन का नेतृत्व इस दिशा में करता जिससे प्रांतीय भाषाओं के विकास के साथ–साथ हिंदी को अपनाने में किसी स्तर पर संकोच न होता। गांधी स्वयं पूरे राष्ट्रीय आंदोलन के विकास के साथ–साथ अपने विचारों में परिवर्तन लाते हैं परंतु हिंदू धर्म में मौजूद वर्चस्वशाली संस्कृति की विचारधारा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाए। प्रांतीय भाषाओं को 'हिन्दुस्तानी' अपनाने के लिए कहते हैं पर 'संस्कृत' के महत्व को भी अस्वीकार नहीं करते। बात भाषा तक सीमित नहीं है। भाषा का रिश्ता धर्म से जोड़कर देखने के कारण जिस संकीर्ण विचारधारा का विकास होता है वह हिन्दी का और भी अहित करती है। जिसे प्रांतीय भाषाएँ पहले ही सांस्कृतिक भिन्नता के कारण अपनाने से इनकार करती हैं, अब उसे धर्म के आधार पर भेद करने वाली राजनीति के प्रभाव से पूरी तरह से अस्वीकृत मान लिया

---

58 गाँधी – मेरे सपनों का भारत (लेख – राष्ट्रभाषा और लिपि), पृ. 214.

जाता है। 'हिन्दू बालक की शिक्षा संस्कृत के प्रारंभिक ज्ञान के बिना अधूरी मानी जानी चाहिए। संस्कृत भाषा और संस्कृत साहित्य का अध्ययन यथेष्ट मात्रा में न चलता रहा तो हिंदू धर्म का नाश हो जाएगा ...।' सन् 1926 में गाँधी इस बात की चिंता बड़ी गंभीरता से करते हैं।[59] लेकिन सन् 1931 तक आते–आते उनके स्वराज्य के 'करोड़ों भूखों मरने वालों, करोड़ों निरक्षरों, निरक्षर बहनों, दलितों व अन्त्यजों की भाषा हिन्दी ही एकमात्र राष्ट्रभाषा हो सकती है', जिसका अंग्रेज़ी से कोई नाता नहीं। ऐसा वर्ग न अंग्रेज़ी में शिक्षा ग्रहण कर सकता था न उसकी संस्कृति से कोई वास्ता रख सकता था। पर वास्तविकता तो यह थी कि इस राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख राजनीतिक उद्देश्य भारतीय राष्ट्र का निर्माण था जिसके लिए भारतीय राष्ट्र की व्यापक व्याख्या की आवश्यकता थी। भारत की सांस्कृतिक बहुलता को ध्यान में रखते हुए सामासिक संस्कृति का एक ऐसा मॉडल आम जनता के सामने रखना ज़रूरी था जो सभी भारतीयों को संगठित करे, अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध तथा भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में विकसित करे।

'हिंदी या हिंदुस्तानी' को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना कर और देवनागरी को उसकी एक सामान्य लिपि के रूप में विकसित कर भारत में सामासिक संस्कृति का विकास किया जा सकता है – ऐसा विचार गाँधी का था। गाँधी उस समय राष्ट्रीय कांग्रेस के माध्यम से पूरे राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे। वे हिन्दी के सामने उन बाधाओं को भी देख रहे थे जो उसे राष्ट्रभाषा बनाने में सामने आ रही थीं हिंदी के पास अपना कोई भी जातीय प्रदेश नहीं था, फिर भी उसे बोलने वाली बहुसंख्यक जनता ने उसे सम्पर्क भाषा के रूप में अपनाया। इसलिए हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाना उचित समझा गया। हिंदी में मौजूद विपुल साहित्य, उसकी लम्बी परम्परा सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की झलक

---

59 गाँधी – मेरे सपनों का भारत (लेख – राष्ट्रभाषा और लिपि), पृ. 214.

देती है। हिंदी भारत की सामासिक संस्कृति का निर्माण करने में पूरी तरह से सक्षम भाषा मानी गई। लेकिन इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि अपने इस उद्देश्य में हिंदी सफल नहीं हो पाई। धर्म, जाति और वर्ग के आधार पर ही उसे बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा बल्कि अन्य प्रांतीय भाषाओं ने अपनी सांस्कृतिक भिन्नता का दावा किया। इसके पीछे जो राजनीतिक स्थितियाँ जिम्मेदार रहीं वे वर्तमान में और भी अधिक सक्रिय हो गईं। धर्म के आधार पर हिन्दी–उर्दू विवाद, हिन्दू–मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीति का परिणाम था, यह 'हिन्दी' के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती थी, जो उसे हिन्दूवादी संकीर्ण धार्मिक घेरे में बाँध रही थी। 'हिंदी हिन्दू हिन्दुस्तान' के माध्यम से जिस वर्चस्वशाली और प्रभुत्वशाली सामाजिक वर्ग की विचारधारा की प्रतिष्ठा हो रही थी – वह सुसंस्कृत ब्राह्मणवर्ग, हिन्दू धर्म में मौजूद जाति व्यवस्था का खण्डन करने के बजाय उसकी पुष्टि कर रहा था। धर्म और जाति के इस संकीर्ण दायरे से अलग शिक्षित समुदाय अंग्रेज़ी में शिक्षा ग्रहण कर आधुनिक चेतना लाने के लिए प्रयत्नशील था। शिक्षित समुदाय क अलावा 'अंग्रेज़ी' पढ़े लिखे भद्र वर्ग की भी भाषा बनती जा रही थी जिसका राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप था। इन सब बाधाओं का सामना करने के बावजूद 'हिन्दी' देश भाषा के रूप में सक्षम व खरी उतरी तो इसका सबसे बड़ा कारण डॉ. धर्मवीर के शब्दों में कहें तो हिन्दी का नाता 'श्रमिक संस्कृति'[60] से है जो देश की जनसंख्या का सबसे बड़ा हिस्सा रहा है।

हिंदी उर्दू विवाद के माध्यम से जो साम्प्रदायिक तनाव फैला उससे भारत की सामासिक संस्कृति को सबसे गहरा आघात पहुँचा। 'इस्लाम धर्म सुधारक सर सैय्यद अहमद खाँ भी गाँधी की तरह 'हिंदुस्तानी' की ही पैरवी कर रहे थे पर न्यायालयों से उर्दू हटाने के पक्ष में नहीं थे और न ही देवनागरी लिपि के प्रयोग को आवश्यक मान रहे थे।'[61]

---

60 डॉ. धर्मवीर – हिन्दी की आत्मा, पृ. 28.

61 एस. आबिद हुसैन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ. 123.

जिन साम्प्रदायिक स्थितियों के पीछे ठोस राजनीतिक कारण थे – उन्हें भाषाई विवाद के रूप में भी प्रस्तुत किया गया। सन् 1937 के बाद की स्थितियों में जो परिवर्तन आया उससे कांग्रेस के कार्यकर्त्ताओं में धार्मिक अलगाव गहरा हुआ – 'मि. मुहम्मद अली जिन्ना जो मुस्लिम लीग के आजीवन अध्यक्ष थे, उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध प्रतिक्रिया का पूरा लाभ उठाया, जो आंशिक रूप से नयी सांप्रदायिक प्रवृत्ति के कारण था किंतु मुख्य रूप से घातक जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के कारण हुआ, जिस पर कुछ प्रांतों में मध्यम श्रेणी के मुसलमान अपनी जीविका के लिए निर्भर थे।'[62] ये राजनीतिक स्थितियाँ बहुत बाद की हैं इसके पहले ही हिन्दी–उर्दू विवाद साम्प्रदायिक रंग ले चुका था, अब जो मुख्य बाधा थी 'हिन्दुस्तानी' के राष्ट्रभाषा बनने के समक्ष वह 'फारसी' या 'उर्दू' न होकर 'अंग्रेज़ी' थी। हिन्दुस्तानी ज़बान बोलचाल की भाषा थी पर कामकाज की भाषा के रूप में अभी तक उस पर सरकारी मुहर नहीं लगी थीं अन्य प्रांतों के भाषाभाषी अंग्रेज़ी के प्रयोग में सुविधा महसूस करने लगे थे। इस अंतर को रेखांकित करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं कि पहले जो स्थिति फारसी की थी, अब अंग्रेज़ी की है। 'शाही फर्मान, पत्र–व्यवहार आदि और सारा अदालती काम फारसी लिपि में होता था। पढ़े–लिखे हिंदुओं को भी फारसी सीखनी पढ़ती थी और जिस तरह आज भी अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग बहुधा अंग्रेज़ी में ही निजी पत्र व्यवहार करते हैं : क्योंकि अंग्रेज़ी लिखना उन्हे हिन्दी लिखने से आसान मालूम होता है।[63]

लेकिन इसके बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन में भारत राष्ट्र के जब प्रतीक गढ़े जा रहे थे, तब अपनी भाषा की पहचान निर्धारित करना बहुत जरूरी था। यह स्थान अंग्रेज़ी कभी नहीं ले सकती थी। उसके महत्व को जानते हुए भी राष्ट्रभाषा के रूप में 'हिंदुस्तानी को

---

62 एस. आबिद हुसैन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ. 117.

63 प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार (लेख – हिन्दी उर्दू और हिंदुस्तानी), पृ. 229.

ही भारतीय संस्कृति की भाषा माना गया। जिसके बारे में प्रेमचंद बताते हैं – 'हिंदुस्तानी शब्द का व्यवहार अंग्रेज़ी राजकाल में शुरू हुआ है और अब यह उस मिलीजुली भाषा का पर्याय है, जो जन साधारण की भाषा है और जिसमें फ़ारसी–अरबी के वह सभी शब्द धड़ल्ले से प्रयुक्त होते जाते हैं, जो आमतौर पर बोले जाते हैं। उसका सबसे नया नाम राष्ट्रभाषा हो गया है।'[64] इसी हिंदुस्तानी ज़बान को हिंदू मुस्लिम एकता का प्रतीक मानते हुए गाँधी ने अंग्रेज़ी के समक्ष राष्ट्रभाषा के रूप में रखने की कोशिश की। उर्दू के अलावा जिन अन्य प्रांतीय भाषाओं को बोलने वालों ने हिन्दी की अवहेलना की उनमें प्रमुखरूप से बंगाल और मद्रास थे जिनका उल्लेख गाँधी करते हैं। इन प्रांतीय भाषाओं को बोलने वालों के पूर्व–ग्रह और हिन्दुस्तानी सीखने में जो कठिनाई आती है, उनके लिए गाँधी का कहना था कि जितने प्रयास अंग्रेज़ी सीखने के लिए किए जा रहे हैं उससे कहीं कम मेहनत करके हिन्दी सीखी जा सकती है। ऐसा वे इसलिए कह रहे थे क्योकि 'हिन्दी जानने वालों के मुकाबले – अंग्रेज़ी जानने वाले हिंदुस्तानियों की संख्या कम है। अंग्रेज़ी जानने से इन थोड़े से लोगों के साथ ही विचार विनिमय के द्वार खुलते हैं। इसके विपरीत हिंदुस्तानी का काम चलाऊ ज्ञान अपने देश के बहुत ही ज्यादा भाई बहनों के साथ बातचीत करने की शक्ति प्रदान करता है।'[65] गाँधी अंग्रेज़ी के बढ़ते प्रयोग से इस भ्रम के पैदा होने को भी महसूस कर रहे थे कि अंग्रेज़ी को राष्ट्रभाषा न मान लिया जाए, क्योंकि वे यह भी मान रहे थे कि सभी ज्ञान–विज्ञान, साहित्य अध्ययन, अर्थ प्राप्ति तथा राज्याधिकारियों के साथ सम्पर्क रखने और ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए हमें अंग्रेज़ी के ज्ञान की आवश्यकता है। इच्छा न रहते हुए भी हमको अंग्रेज़ी पढ़नी होगी।' ... पर इसके साथ ही वे यह भी लिखते हैं, 'अगर हिन्दुस्तान को हमें सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने,

---

64 प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार (लेख – हिन्दी उर्दू और हिंदुस्तानी), पृ. 292.

65 गाँधी जी : मेरे सपनों का भारत, पृ. 226.

राष्ट्रभाषा तो हिन्दी ही बन सकती है; क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता। हिंदू मुसलमान दोनों को मिलाकर करीब बाईस करोड़ मनुष्यों की भाषा थोड़े बहुत फेरफार से हिन्दी–हिंदुस्तानी ही है।'[66]

राष्ट्रीय आंदोलन एक राजनीतिक आंदोलन भी था साम्राज्यवाद के विरुद्ध, इसलिए भारत की सामासिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाली राष्ट्रभाषा की पहचान निर्मित करना अत्यंत आवश्यक माना गया। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप जो प्रश्न सामने आता है वह यह कि सामासिक संस्कृति की जब बात की जाती है तब सांस्कृतिक वर्चस्व जो उसके भीतर निर्मित हो रहा है, उसे तोड़ने के बजाय उसे नज़रअंदाज़ किया जाता है। – सामासिक संस्कृति के नाम पर जो सम्मिलित संस्कृति की पहचान बनाई जाती है जब वह किसी एक प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों की ही केवल रक्षा करने लगती है या वर्ग विशेष को अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक समृद्ध बनाने लगती है तब सामासिक संस्कृत की अवधारणा अमान्य हो जाती है। वह एक नए किस्म का सांस्कृतिक वर्चस्व कायम करती है जो पुनः एकता को चुनौती देता है। ... हिन्दी एक समृद्ध भाषा होते हुए भी कभी साम्प्रदायिक विवादों का सामना करती रही तो कभी जाति और वर्गों के परस्पर तनाव व विरोधों को झेलती रही। उसका प्रगतिशील चरित्र हिंदी साहित्यकारों ने निर्मित करने की कोशिश की; पर समाज और साहित्य का संबंध परस्पर सहयोग का नहीं विरोध का भी होता हैं हिन्दी साहित्य की परम्परा अब तक उन प्रगतिशील तत्त्वों को लेकर चलने की रही जिनसे भारत की सामासिक संस्कृति निरंतर दृढ़ होती रहे।

नामवर सिंह भी इस दौर के साहित्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं – 'प्रेमचंद द्वारा संस्थापित हंस तथा कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा संचालित 'नया

---

66 गाँधी जी : मेरे सपनों का भारत, (लेख : दक्षिण में हिंदी) पृ. 229.

साहित्य' जैसे मासिक पत्रों ने इस युग में प्रगतिशील साहित्य की रचना और प्रचार में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इन पत्रों तथा 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रयत्न से हिन्दी के प्रगतिशील लेखक उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, पंजाबी, तेलुगु, मलयालम आदि साहित्य के प्रगतिशील लेखकों के सम्पर्क में आये और इस तरह परस्पर सहयोग से उन्होंने पर्याप्त शक्ति अर्जित की। ... पैंतीस के प्रगतिशील आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने मुख्यतः किसानों मज़दूरों और कुछ निम्न मध्यवर्ग के पढ़े लिखे युवकों में से नवीन भावनाओं वाले कवि तथा लेखक निकले।'[67]

इस प्रकार हिन्दी भाषा के साहित्य के विकास के साथ जिस नए राष्ट्र की परिकल्पना का विकास हुआ वह आम जनमानस की संवेदना से जुड़ा हुआ था। हाशिए पर पड़े वर्गों को राष्ट्र का हिस्सा बनाने की कोशिश कर रहा था। प्रेमचंद का पूरा कथा–साहित्य उत्तर भारत के ही नहीं बल्कि पूरे देश की तस्वीर सामने रखता है, जिन समस्याओं से भारत को मुक्त करने के प्रयास किए जा रहे थे। यहाँ निराला की वे काव्य पंक्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं जो देश के यथार्थ पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं –

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य चक्र ?
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के रेशों को
स्वर्ण प्रतिमा की ओर ?
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्सुओं का अदमनीय
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गयी

---

67 नामवर सिंह – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 84–85.

सभ्यता पर : संस्कृति पर
काँपे सदारे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।[68]

राष्ट्र की नई सांस्कृतिक पहचान बनाने और उसे पाने क लिए हिन्दी साहित्यकार बेचैन था। वह अपनी भाषा को जन–जन की चेतना से जोड़ने का प्रयास करना चाहता था जो हर तरह की संकीर्णता को तोड़कर नवीन आधुनिक परिवेश का निर्माण करे।

---

68 अनामिका : निराला (दिल्ली) कविता, पृ. 51.

चतुर्थ अध्याय : राष्ट्रवाद और स्वाधीन भारत में हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में संबंध

(i) राष्ट्रभाषा – राजभाषा का प्रश्न
(ii) भाषाई राज्य की अवधारणा और हिन्दी का क्षेत्र
(iii) भाषाई विवाद और सांस्कृतिक एकता

अध्याय–4

राष्ट्रवाद और स्वाधीन भारत में हिन्दी व अन्य भारतीय भाषाओं में संबंध

(i) राष्ट्रभाषा व राजभाषा का प्रश्न

स्वतंत्र भारत में उन राष्ट्रीय प्रतीकों को गढ़ा गया और उनकी पहचान को प्रतिष्ठित किया गया जो भारत को एक सम्पूर्ण राष्ट्र का दर्जा देते हों। 'भाषा' सबसे सशक्त प्रतीक व माध्यम था जिसके ज़रिये विभिन्न संस्कृतियों को एक दूसरे के नज़दीक लाया जा सके और उनकी एक सम्मिलित पहचान बनाई जा सके। प्रेमचंद ने सन् 1934 में एक लेख लिखा था – 'बे–राष्ट्रभाषा का राष्ट्र'[1], जिसमें राष्ट्रभाषा की आवश्यकता को राष्ट्र के विकास के लिए ज़रूरी बताया गया है। वे भाषा को आरंभ से ही धार्मिक विवादों से मुक्त रखना चाहते थे और 'हिन्दुस्तानी' ज़बान को देश की भाषा के रूप में स्थापित करने के पक्ष में थे। वे वर्तमान स्थितियों को दूरदर्शी होकर देख रहे थे, इसलिए उन्होंने लिखा कि देश की वास्तविक पहचान धर्म से नहीं भाषा से बनती है – 'धर्म का उच्च स्थान नहीं रहा, अब राष्ट्र की भाषा का होना ज़रूरी है ... राष्ट्र की भौगोलिक स्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। भाषा भी उसी से तय होती है ... हिन्दी में ही यह क्षमता है कि वह कौमी ज़बान बन सके।'[2] इतना ही नहीं देश के सांस्कृतिक विकास के लिए वे राष्ट्रभाषा में लिखे साहित्य के विकास को भी ज़रूरी मानते थे। हैरत की बात नहीं कि ठीक यही विचार भगत सिंह के भी थे कि अगर 'राष्ट्र के अखण्ड स्वरूप को निर्मित करने के लिए

---

1 प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार, पृ. 74

2 वही, पृ. 76

अपनी भाषा चाहिए तो यह ज़रूरी काम तभी पूरा हो सकेगा जब अपनी भाषा में साहित्य रचा जाएगा।'[3]

राष्ट्रभाषा के रूप में जब–जब हिन्दी के विकास की चिंता की गई, वह केवल 'हिन्दी' की ही परेशानी बनकर रह गई। राष्ट्रभाषा के विकास के मुद्दे को सही रूप में नहीं पहचान पाई। बहुसंख्यक वर्ग की भाषा हिन्दी होने के कारण उसे राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया। कहने को हिन्दी जाति का अपना कोई प्रदेश नहीं परंतु राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने वाला उत्तर भारत का बड़ा भाग हिन्दी की जातीय पहचान को बनाता है। हिन्दी के साथ–साथ अन्य भारतीय भाषाओं के विकास और उनके स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भाषावार प्रांत के निर्माण की योजना बनाई गई। लेकिन इससे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच राजनीतिक स्तर पर सांस्कृतिक विभाजन करने के प्रयास और बढ़ गए। औपनिवेशिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप 'राष्ट्र' के जिस ढाँचे को अपनाया गया तब हिन्दी की जगह कोई अन्य भाषा अगर राष्ट्रभाषा बनाई जाती तो उसे भी उन्हीं दिक्कतों का सामना करना पड़ता जिनका हिन्दी करती आई है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी का सबसे जयादा विरोध दक्षिण भारतीय भाषाओं द्वारा किया गया। जोकि बाद में हिन्दी का अंग्रेज़ी के प्रति विरोध बन गया। जिस 'हिन्दुस्तानी' को राष्ट्रभाषा के रूप में गाँधी, या प्रेमचंद स्थापित देखना चाहते थे वह उस साम्प्रदायिक रंग से अलग, हिन्दी–उर्दू के उस भेद से अलग थी। उस समय यह भी माना गया कि प्रांतीय भेदभावों को दूर करने में हिन्दी पूरी तरह से सक्षम है। राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी भूमिका निभा रहे सभी बड़े आंदोलनकारियों, विद्वानों आदि ने 'हिन्दी' में साहित्य रचा, कृतियाँ लिखीं और प्रचार कार्य किया। देशभाषा के रूप में हिन्दी स्वीकृत भाषा दिखाई

---

3 भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेज – चमनलाल और जगमोहन सिंह. पृ० 8–13

पड़ी। राष्ट्रभाषा के रूप में शायद स्वीकृत थी भी पर राजकाज की भाषा में उसे कई रूपों में असमर्थ पाया गया। इसके कई सामाजिक–राजनीतिक विश्लेषण भी किए गए। सन् 1950 में संघ की भाषा के रूप में हिन्दी और देवनागरी लिपि को अपनाया गया। संघ की भाषा के रूप में 'हिन्दी' को अपनाना क्या अन्य भाषाओं के हित में रहा ? संघ की भाषा बन जाने के बावजूद हिन्दी को एक अविकसित भाषा का दर्ज़ा दिया गया और उसकी इस कमी को पूरी करने का काम किसी अन्य भारतीय भाषा ने नहीं अंग्रेज़ी ने स्थान ग्रहण किया। हिन्दी के शब्द भण्डार और वाक्य संरचना के विकास के लिए अन्य भारतीय भाषाओं की मदद नाममात्र के लिए ही रही। मुख्य स्रोत 'संस्कृत' को बना कर 'हिन्दी' उस हिन्दुस्तानी से काफी दूर हो गई जो जनभाषा का वास्तविक रूप था। संघ की भाषा को अटपटा और हास्यास्पद बनाने में सबसे अधिक योगदान था इस विचार का कि हर अंग्रेज़ी शब्द का हिन्दी अनुवाद किया जाए। मूल अर्थ की खोज के लिए संस्कृत की मदद से शब्दों को गढ़ा गया। फारसी, अरबी, उर्दू के जो शब्द, यहाँ तक की अंग्रेज़ी के काफी शब्द हिन्दुस्तानी में घुलमिल गए थे, उन्हें उच्चारण की थोड़ी मिन्नता के साथ अन्य भाषा में भी ज्यों का त्यों प्रयोग में देखा जा सकता है। ऐसे शब्दों की जगह गढ़ी हुई भाषा कैसे ले सकती थी ?

"महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के लिए ज्ञान विज्ञान की शब्दावलियाँ तैयार करने का काम केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय को सौंपा गया। निदेशालय ने एक पारिभाषिक शब्द संग्रह प्रकाशित किया। 1971 में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग स्थापित हुआ। इस आयोग ने अब तक विज्ञान, मानविकी, आयुर्विज्ञान, इंजीनियरी, कृषि, रक्षा आदि की शब्दावलियां प्रकाशित की हैं।"[4] इस तरह की गढ़ी हुई भाषिक संरचना कभी भी

---

4 हरदेव बाहरी – हिन्दी : उद्भव विकास और रूप – पृ० 102

बौद्धिक समुदाय की भाषा नहीं बन पाई। शिक्षा और ज्ञान के विकास में इसका सहयोग कम, कठिनाई अधिक महसूस की गई। इतने यांत्रिक ढंग से भाषा की संरचना करना उसका शब्द भण्डार बढ़ाना, भाषा को हास्यास्पद ही बनाएगा।

राष्ट्रभाषा के विकास में अंग्रेज़ी को बाधा के रूप में देखा गया। परंतु अन्य भारतीय भाषाओं ने इसे अपना सुरक्षा कवच बनाया जिससे वे राष्ट्रभाषा के प्रभुत्व का सामना कर सकें। हिन्दी के प्रयोग के आधार पर देश को कई वर्गों में बाँटा गया – क, ख, ग आदि ! जिन क्षेत्रों में हिन्दी बोली समझी व लिखी जाती है वे 'क' क्षेत्र के अंतर्गत आए, जहाँ केवल बोली व समझी जाती है वे 'ख' और जहाँ हिन्दी एक अपरिचित भाषा है वे 'ग' क्षेत्र के अंतर्गत शामिल किए गए। 'ग' क्षेत्रों को संविधान में खास सुविधाएँ दी गईं। लेकिन राजभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध 'ग' वर्ग के क्षेत्रों से ही नहीं 'ख' वर्ग के क्षेत्रों में भी तीव्रता से किया गया। जहाँ हिन्दी का प्रचार प्रसार आसानी से किया जा सकता था। इसलिए समस्या यह थी कि क्या राष्ट्रभाषा 'राजभाषा' बन सकती है ?

इसका विरोध होना स्वभाविक था। जहाँ हिन्दी के अलावा और कई भाषाएँ भी समृद्ध थीं, जिनके लिए सवाल नौकरियों का था। हिन्दी को 'राजभाषा' या संघ की भाषा बनाने का आधार बहुसंख्यक लोगों का हिन्दी समझना, बोलना और लिखना था। लेकिन सरकारी कामकाज में राजभाषा एक से अधिक भी हो सकती है। कई देशों में ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं। 'अन्य देशों का अनुभव ...' में ऐसे कई देशों के नाम दिए गए हैं जहाँ कई भाषाएँ राजभाषाएँ बनाई गई हैं और वहाँ संवैधानिक कार्यों में कोई बाधा भी नहीं आती। भारत की राष्ट्रीय संरचना में क्या यह करना कठिन था ?

भारतीय संविधान में राजभाषा संबंधी कुछ नियम बनाए गए, जो आज व्यवहार की दृष्टि से बिल्कुल अलग जा पड़ते हैं। संविधान में ये नियम तीन स्तरों पर बनाए

गए – 1) संघ की सरकारी भाषा; 2) संसद के कार्यों में प्रयोग की जाने वाली भाषा; और 3) कानून बनाने के लिए व उच्चतम व उच्चन्यायालयों में प्रयोग की जाने वाली भाषा। "भारत के संविधान के अनुच्छेद 343 में यह व्यवस्था की गई कि संघ की सरकारी भाषा देवनागरी लिपि में हिन्दी होगी।"[5] अंग्रेज़ी को हिन्दी के बराबर दर्ज़ा दिया गया, पहले 15 वर्षों के लिए और बाद में अनिश्चित काल तक के लिए। इससे अंग्रेज़ी ने हिन्दी की जगह ही नहीं छीनी बल्कि उन प्रांतीय भाषाओं को भी पीछे धकेल दिया जिनके लिए हिन्दी का विरोध किया गया था।

संसद में अंग्रेज़ी और हिन्दी का प्रयोग एक दूसरे के विकल्प रूप में रखा गया। केवल दक्षिण भारतीय भाषाओं के लिए यह प्रावधान रखा गया कि जो अपने भाव हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी में अभिव्यक्त नहीं कर सकते, उन्हें हिन्दी व अंग्रेज़ी में अनुवाद की सुविधा दी गई।[6] उच्चतम न्यायालय और उच्चन्यायालयों तथा अधिनियमों, विधेयकों आदि में प्रयोग की जाने वाली भाषा केवल अंग्रेज़ी ही रखी गई।

अपनी अपनी भाषाओं के प्रयोग का अधिकार सुरक्षित होते हुए भी इन नियमों के कारण व्यावहारिक न बन पाया। सन् 1955 में राजभाषा आयोग की नियुक्ति की गई जिसका काम राजभाषा के शब्द ज्ञान को बढ़ाना, उसके मानक व परिनिष्ठित रूप का गठन करना और सरकारी नौकरियों में हिन्दी में कामकाज का प्रसार करना था।[7] भाषा को गढ़ने–रचने बनाने का काम इस ढंग से किया गया, जिसमें से ऐसी कृत्रिम भाषा निकल कर आई जो अटपटी तो थी ही, बोलचाल की सहज भाषा से कोसों दूर भी। उर्दू,

---

5 ऑफिशियल लैंग्वेज़ ऑफ द यूनियन पृ. 11
6 वही, पृ. 11
7 वही, पृ. 13

फारसी के प्रचलित शब्दों की जगह चुन–चुन कर मूल हिन्दी के शब्दों की खोज संस्कृत के माध्यम से की गई।

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं 'पारिभाषिक शब्दावली निर्माण में अनेक खामियाँ हैं। ये खामियाँ भाषा की नहीं हैं, इनका संबंध है शब्दावली निर्माण के संगठन से। इस तरह के निर्माण कार्य में लगे हुए कुछ लोग समझते हैं कि जो शब्द लोकप्रिय हैं, वे पारिभाषिक नहीं हो सकते। प्रत्येक भाषा में ऐसे शब्द मिलते हैं जो जन साधारण में प्रचलित हैं, साथ ही पारिभाषिक भी हैं।' ... डॉ. रामविलास शर्मा पारिभाषिक शब्दावली में उन शब्दों के प्रयोग की बात करते हैं जो 'आमफहम' हैं। हिन्दी के जो शब्द गढ़े गए वे इतने कठिन थे जिनकी उच्चारण–पद्धति का ध्यान नहीं रखा गया, जिनकी तुलना में अंग्रेज़ी शब्द बोलने में आसान होते हैं।[8]

डॉ. शर्मा का मानना था कि भले ही हिन्दी में पर्याप्त शब्द न मिलें पर राजभाषा के रूप में उसका प्रयोग रुकना नहीं चाहिए। इसके लिए वे प्रचलित अंग्रेज़ी शब्दों को हिन्दी में अपनाने की बात कहते हैं।

हिन्दी पर अंग्रेज़ी का प्रभाव पड़ना स्वभाविक स्थिति बन गया। अंग्रेज़ी वर्चस्वशाली वर्ग की भाषा बन गई, व्यापार–वाणिज्य के क्षेत्र की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होती गई और अंततः सभी शैक्षिक व बौद्धिक कार्यों की भाषा के रूप में भी उसका प्रयोग निरंतर बढ़ता ही गया। समाचार–पत्रों से लेकर लोकप्रिय पत्र–पत्रिकाओं, विज्ञापनों, पोस्टरों और तकनीकी क्षेत्रों में अंग्रेज़ी ने अपनी छवि एक स्तरीय भाषा के रूप में स्थापित कर ली। इसका सबसे बड़ा कारण वह भ्रम है जिसे साफ शब्दों में डॉ. रामविलास शर्मा खण्डित करते हैं – 'वे अंग्रेज़ी को एक विकसित भाषा मानने से इनकार करते हैं, यह लड़ाई

---

8 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 379.

सांस्कृतिक वर्चस्व की है। साम्राज्यवादी वर्चस्व को ग्रहण करने की इतनी आदत पड़ गई कि आंतरिक समस्याओं से निपटारे के लिए पुनः उसी की मदद ली जा रही है, जिसके विरुद्ध संघर्ष किया था। ... भारत को आज़ाद करने के लिए मुख्य प्रेरणा अंग्रेज़ी से ही मिली लेकिन आज़ादी पाने के लिए भी अंग्रेज़ी की उतनी आवश्यकता न थी जितनी अब समाजवादी भारत के निर्माण के लिए है।'[9]

इस प्रकार डॉ. रामविलास शर्मा इस भ्रम को तोड़ते हैं कि भारतीय भाषाओं के परस्पर झगड़े जो कि पूरी तरह से राजनीतिक हैं, उनका निपटारा या उनसे बचने का उपाय अंग्रेज़ी के द्वारा ही किया जा सकता है। 'भाषा' के माध्यम से एक और गुलामी को हमने कितनी आसानी से स्वीकार किया। यही स्थिति न्गुगी वा थ्योंगो 'राष्ट्रीय अस्मिता' के सवाल को उठाते हुए अफ्रीका के देशों के संदर्भ में विश्लेषित करते हैं। जहाँ राष्ट्रीय अस्मिता को बनाए रखने के लिए वहाँ के लेखकों ने अपनी भाषाओं में ही साहित्य रचा, वहाँ के लोगों ने अपनी भाषा के व्यवहार का त्याग नहीं किया। वे उस किसान और मज़दूर वर्ग की बात करते हैं जिन्होंने अफ्रीकी भाषाओं को जिंदा रखा। भाषा का सवाल समाज की वर्गीय संरचना से जुड़ा हुआ है। 'वे अफ्रीका के उस निम्न पूँजीपति वर्ग के ढुलमुल पन को उजागर करते हैं जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए या अपनी अस्मिता को बचाने के लिए मुख्य वर्ग का साथ देता है। यहाँ 'मुख्य वर्ग' से अभिप्राय उस प्रभुत्वशाली वर्ग से है जिसने अपनी विचारधारा को स्थापित करने के लिए अपनी भाषा को स्थानीय भाषाओं पर लादा।[10]

पिछड़े देशों की भाषा भी पिछड़ी है क्योंकि वहाँ औद्योगिक और तकनीकी विकास देर से हुआ। वे उपनिवेश थे, गुलाम थे इसलिए उनकी भाषा में विकासशील तत्वों का

---

9 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 370.

10 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 32–33.

अभाव है। इसलिए अब अगर उन्हें विकास और उन्नति के पथ पर चलना है तो विकसित साम्राज्यों की भाषा में ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। राष्ट्रवाद की इस अंधी दौड़ में, अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के दौर में उपनिवेशों का भविष्य उनकी भाषाओं के द्वारा उज्ज्वल नहीं हो सकता। इस तरह की धारणाएँ और मानसिकता अब तक विकसित किया गया। डॉ. रामविलास शर्मा 'राष्ट्रभाषा' पर लिखते समय अपने लेख का आरंभ ही इस बात से करते हैं – 'अंग्रेज़ी विकसित भाषा है, भारतीय भाषाएँ अविकसित हैं। भारतीय भाषाओं में हिन्दी खास तौर से अविकसित है। अंग्रेज़ी का सहारा छूटा तो भारतवर्ष की एकता तो छिन्न–भिन्न हो ही जाएगी। विश्व संस्कृति से उसका संबंध भी एक बारगी टूट जाएगा। अंग्रेज़ी भारत की राष्ट्रभाषा रहे तो सबसे अच्छा दूसरे देशों के सामने शर्म के मारे उसे राष्ट्रभाषा न कह सकें और झख मार कर हिन्दी का व्यवहार करना पड़े तो अंग्रेज़ी और हिंदी दोनों को राष्ट्रभाषा का दर्जा देना चाहिए।' ... लेकिन वे इस सच्चाई को भी सामने रखते हैं कि 'हिंदी का व्यवहार किये बिना कोई अखिल भारतीय नेता नहीं बन सकता।'[11] ... लेकिन इसके बावजूद अंग्रेज़ी भाषा एक वर्चस्वशाली वर्ग की भाषा के रूप में स्थापित होती गई। इसके कारण जितना भारत की आंतरिक संरचना के भीतर मौजूद हैं, उतने ही बाहर भी।

ये बाह्य कारण भारत ही नहीं उन सभी देशों पर लागू होते हैं जिनकी स्थिति भारत जैसे उपनिवेश सी रही है। इस सवाल को उठाते हुए न्गुगी वा थ्योंगो लिखते हैं कि हम अफ्रीकी लेखकों ने यूरो अमेरिका के संदर्भ में हमेशा नवऔपनिवेशिक आर्थिक और राजनीतिक संबंध का रोना रोया है। एकदम ठीक। लेकिन विदेशी भाषाओं में लिखना जारी रखते हुए और उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए क्या सांस्कृतिक स्तर पर हम भी

---

11 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 370.

नवऔपनिवेशिक गुलामी की भावना को ही नहीं बनाए रख रहे हैं ? एक राजनीतिज्ञ जो कहता है कि साम्राज्यवाद के बिना अफ्रीका का गुजारा नहीं हो सकता और एक लेखक जो कहता है कि यूरोपीय भाषाओं के बिना अफ्रीका का काम नहीं चल सकता, उन दोनों में क्या अंतर है ?'[12]

साम्राज्यवादी संस्कृति का प्रभाव और विस्तार का कारण बाहरी है जो किसी भी राष्ट्र, संस्कृति या समाज में मौजूद हो सकता है। वस्तुतः यह वह वर्ग है जिसे भारत के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा इस तरह से परिभाषित करते हैं – 'यह छोटा–सा वर्ग भारत–भाग्य विधाता है। अंग्रेज़ी में उसका निहित स्वार्थ है। विदेशी भाषा के बल पर वह साहब बना हुआ अपने देशवासियों पर राज करता है।'[13] क्या यह समस्या देशी भाषाओं को अधिक सुविधाएँ देने या व्यवहार के लिए सरकार द्वारा विशेष प्रावधान कर देने से हल हो जाएगी ? समाज की सभी महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं का ढाँचा और संरचना औपनिवेशिक शासन की देन है। उसमें देश का कानून, प्रशासन और शिक्षा आदि आते हैं। ये व्यवस्थाएँ राष्ट्र में जिस तरह की राजनीति का विकास करती हैं, वह वास्तव में 'democracy' को बहुत कम 'space' देता है। व्यवस्था में सामंती व साम्राज्यवादी ढाँचे अब भी मौजूद हैं, उनसे मुक्ति नहीं मिली है बल्कि यह प्रजातंत्र उसी पर टिका हुआ है। जिसका प्रभाव उस समाज की संस्कृति व भाषा पर भी पड़ा है। डॉ. रामविलास शर्मा ऐसे समाज में पैदा किए गए भ्रमपूर्ण तर्कों का खण्डन करते हैं जो कहता है कि 'हिन्दी तथा भारत की अन्य सभी भाषाएँ दरिद्र हैं और अंग्रेज़ी विश्वभाषा है। ... इन स्थापनाओं की सिद्धि के लिए कुछ विद्वान एक वैज्ञानिक तर्क का सहारा लेते हैं। भारत पराधीन था; देश का उत्पादन पिछड़ा हुआ था। इसलिए उत्पादन व्यवस्था के अनुपालन से भाषाएँ भी पिछड़ी रह गयीं।

---

12 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 37

13 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 371.

... यह तर्क ऊपर से देखने में वैज्ञानिक लगता है। भाषा उत्पादन और वितरण के विकास के साथ समाज की नई नई आवश्यकताएं पूरी करने का साधन बनती हैं।' डॉ. रामविलास शर्मा का मत है कि औद्योगिक विकास न होने से भाषाएं पिछड़ी नहीं हो जातीं। वे रूस और चीन का उदाहरण देते हैं जहाँ अपनी भाषाओं में राज काज चलता रहा और औद्योगिक विकास के साथ–साथ पारिभाषिक शब्दावली गढ़ ली गई।[14]

किसी विदेशी भाषा का राजभाषा के रूप मं स्थापित होते जाना और देशी भाषाओं को विस्थापित करते चले जाना भारत में कैसे संभव होता गया? आज जो वस्तुस्थिति है वह यह है कि शिक्षा और नौकरियों में, बाज़ार, व्यापार और सम्पर्क की दुनिया में अंग्रेज़ी की आवश्यकता पहले से भी ज़्यादा हो गई है इसके ठोस बाह्य कारणों की पड़ताल करें तो यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद के विकास के साथ राष्ट्रों का उदय हुआ। जब यह महसूस किया गया कि अपनी ज़मीन, अपने संसाधन, संस्कृति, अपने लोग अपनी भाषा पर अपना हक होना चाहिए।

एज़ाज अहमद औपनिवेशिक स्थितियों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप ही विश्व की आर्थिक व्यवस्था जैसी अवधारणा आई जब कई भिन्न अर्थव्यवस्थाएँ एक दूसरे से जुड़ने लगीं। जिसमें कुछ औपनिवेशिक शक्तियों ने कई राष्ट्रों के खण्डों पर अपना आधिपत्य और नियंत्रण स्थापित किया। पूँजीवाद का आगे विकास करने के लिए यह जरूरी हो गया कि उपनिवेशों को मुक्त किया जाए और वैश्विक स्तर पर अर्थव्यवस्था कायम की जा सके ...।'[15] एज़ाज अहमद द्वारा प्रस्तुत इस विश्लेषण से जो महत्वपूर्ण बिंदु मिलता है वह यह कि मुक्त हुए राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाएँ पूँजीवादी

---

14 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 376.

15 एज़ाज़ अहमद : ऑन कम्युनेलिज्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 97

शक्तियों के नियंत्रण से मुक्त नहीं हो पाई। बाज़ार और व्यापार जगत उन विकसित–अर्थव्यवस्थाओं की भाषा को भी नहीं छोड़ पाया। आज जब सरकारी क्षेत्र और भी संकुचित हो गए हैं और निजी क्षेत्रों का लगातार विस्तार हो रहा है वैसे–वैसे अंग्रेज़ी भाषा को जानने समझने की जरूरत ही नहीं उसके उच्चारण के अनुकरण को भी महत्व मिलता जा रहा है। – इन बाहरी परिस्थितियों के दबाव के अलावा उन आंतरिक स्थितियों पर दृष्टि डालनी आवश्यक है जो राजभाषा– राष्ट्रभाषा के समय बाधा के रूप में उपस्थित रही हैं।

पॉल आर. ब्रास – स्वतंत्र भारत में धर्म और भाषा के आधार पर राजनीति और अभिजन समुदाय द्वारा अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए इनके प्रयोग जैसे आंतरिक कारणों पर शोध करते हैं। धर्म और भाषा के आधार साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीय अस्मिता को खतरा – ये भारत की मूल समस्या रही है। इसके घेरे में राष्ट्रभाषा के प्रति अवहेलना देखने को मिलती है। उसका आध्यात्मिकरण, धार्मिकता में उसे बाँधना या कभी उसे दरिद्र या अवैज्ञानिक बताया जाता रहा है। शिक्षा नौकरियों और सम्पर्क आदि क्षेत्रों में वह विवादास्पद रही है या संघर्षशील। उस पर अंग्रेज़ियत या उसकी संस्कृति हमेशा हावी रही। यह भारत की आंतरिक समस्या के रूप में विश्लेषित की गई। 'सरकारी नीतियाँ समूहों के परस्पर अलगाव और संघर्षों को कम कर सकती हैं और बढ़ा भी सकती हैं। परंतु जिस तरह की राजनीतिक माँगें रखी जाती हैं उनमें यह संभव है कि वे प्रतिस्पर्धा/प्रतिद्वंद्वी अभिजन समूह जो सत्ता के विपक्ष में हैं उसकी सोची समझी राजनीति का हिस्सा हों या उसी राजनीतिक व्यवस्था में परस्पर प्रतिस्पर्धा रखने वाले समूह हों। तब सरकारी नीतियों का औचित्य/अनौचित्य का सवाल ही नहीं उठता जोकि समूह की माँगों को संतुष्ट कर सके।' भारत की आंतरिक स्थितियों को केन्द्र में रखकर पॉल ब्रास अपने शोध में भाषा, धर्म और सामुदायिक पहचान के राजनीतिकरण की समस्या को उठाते हैं। इसमें

वे अभिजन समूह की महत्वपूर्ण भूमिका को उजागर करते हैं। यह वर्ग भाषा या धर्म को सामुदायिक पहचान का प्रतीक बनाकर प्रयोग करता है।[16]

गाँधी स्वयं इस वर्गीय भेद को देख रहे थे, जहाँ 'भाषा' वर्गीय भेद का सशक्त प्रतीक बनती जा रही थी। "हमने अपनी मातृभाषाओं के मुकाबले अंग्रेज़ी से ज्यादा मुहब्बत रखी, जिसका नतीजा यह हुआ कि पढ़े लिखे और राजनीतिक दृष्टि से जागे हुए ऊँचे तबके के लोगों के साथ आम लोगों का रिश्ता बिल्कुल टूट गया और उन दोनों के बीच एक गहरी खाई बन गई। यही वजह है कि हिन्दुस्तान की भाषाएँ गरीब बन गईं और उन्हें पूरा पोषण नहीं मिला।'[17]

कहने का अभिप्राय यह है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी बनती या मराठी, तमिल बनती या बंगाली – भाषाओं के बीच परस्पर संघर्ष राजनीतिक प्रतीकों के चुनाव की लड़ाई भी है। सत्ता या केन्द्र द्वारा सामूहिक चेतना को भड़काने वाली संकीर्ण राजनीति का परिणाम भी है। जिसे एक व्यावहारिक समस्या का रूप देकर अंग्रेज़ी को स्थापित किया गया है। जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा लिखते ही हैं, 'गम केवल हिन्दी से अहिन्दी भाषियों को ही नहीं रहा : भय है – बंगालियों को असमिया से, मराठी भाषियों को गुजराती से, तेलुगु भाषियों को तमिल से इत्यादि और अंग्रेज़ी को गले लगाए रखने को सब तैयार हैं।'[18] शिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेज़ी को अपनाता जा रहा है, जिसे नई सांस्कृतिक शिक्षा मिलती जा रही है। दूसरा बड़ा वर्ग इससे वंचित ही रहेगा और पिछड़ा हुआ कहलाएगा। उसे राष्ट्र की प्रमुख धारा से जोड़ने के लिए देश की भाषाओं को उन्नत बनाना जरूरी था। अंग्रेज़ी 'क्लासिज़' (Classes) की भाषा थी और हिन्दी व प्रांतीय भाषाएँ आम जनमानस (masses) की

---

16 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 15.

17 महात्मा गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ. 219.

18 डॉ. रामविलास शर्मा : भाषा और समाज, पृ. 372.

भाषाएँ। अंग्रेज़ी का संबंध सम्पन्न, शिक्षित समुदाय से रहा, पूँजीपति, साम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में स्थापित रहा और इस वर्ग का वर्चस्व और प्रभुत्व जिन वर्गों पर कायम हुआ वे देश की भाषाएँ बोलते थे।

गाँधी इस बात को समझते थे और वे जानते थे कि देश की सांस्कृतिक एकता के लिए ही नहीं बल्कि देश की सभी समस्याओं का सामना करने के लिए 'भाषाओं' का विकास जरूरी है। 'अगर सरकारें और उनके दफ्तर सावधानी नहीं लेंगे, तो मुमकिन है कि अंग्रेज़ी भाषा हिन्दुस्तानी की जगह को हड़प ले। इससे हिन्दुस्तान के उन करोड़ों लोगों को बेहद नुकसान होगा, जो कभी भी अंग्रेज़ी समझ नहीं सकेंगे। मेरे ख्याल में प्रांतीय सरकारों के लिए यह बहुत आसान बात होनी चाहिए कि वे अपने यहां ऐसे कर्मचारी रखें, जो सारा काम प्रांतीय भाषाओं में और अंतर प्रांतीय भाषा में कर सकें। मेरी राय में अंतरप्रांतीय भाषा सिर्फ नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।[19] ऐसा करना गाँधी जी के लिए एक राजनीतिक जिम्मेदारी का काम हो सकता है पर गाँधी के लिए राजनीति करना उन सिद्धांतो का निर्माण करना भी था जो राष्ट्र के निर्माण और विकास में सहायक हों।

हिंदी राष्ट्रभाषा के समक्ष मुख्य रूप से तीन स्तरों पर समस्याएँ थीं – एक, हिन्दी–उर्दू विवाद जो कि धार्मिक अलगाववाद और साम्प्रदायिक चेतना के कारण बढ़ता गया। इससे हिन्दी दो खेमों में मुख्य रूप से बँट गई। हिन्दुस्तानी का विरोध किया गया और संस्कृतनिष्ठ हिन्दी को राष्ट्र की व साहित्य की वास्तविक भाषा बताया गया। दूसरे स्तर पर हिंदी के आगे जो समस्या आई वह साम्राज्यवादी नीतियों का परिणाम थी। अंग्रेज़ी ब्रिटिश राज में ही ज्ञान की व शिक्षा की भाषा बना दी गई थी। उस समय स्थापित

---

19 गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ. 221.

विश्वविद्यालयों में आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की भाषा के रूप में स्थापित हो चुकी थी। उसे हटा पाना अब हिन्दी के लिए एक बड़ी समस्या थी। तीसरे स्तर पर जो समस्या थी वह अन्य प्रांतीय भाषाओं से हिन्दी के संबंध की थी। प्रमुख प्रांतीय भाषाओं जैसे बंगाली, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमिया या दक्षिण भारतीय भाषाएँ अथवा उत्तर–पूर्वी जन–जातियों की स्वायत्त पहचान की मांगे और हिंदी से सांस्कृतिक विलगाव का दिखाया जाना। इन समस्याओं को देखते हुए हिन्दी राष्ट्रभाषा तो बनी पर राजभाषा पूरी तरह से न बन पाई। हिन्दी को यह विशेषाधिकार देने का अभिप्राय था हिन्दी–भाषियों के साथ अन्य प्रांतीय भाषाओं की प्रतिस्पर्धा। इसलिए हिन्दी को अवैज्ञानिक, अविकसित बताया गया और उसकी तुलना मे अंग्रेज़ी को सक्षम भाषा के रूप में स्वीकार किया। अंग्रेज़ी या अन्य भारतीय भाषाओं से जुड़े विवादों का सामना तो हिन्दी को बाद में करना पड़ा, पहले तो हिन्दी के रूप को लेकर ही समस्याएँ खड़ी की गईं कि हिन्दी के किस रूप को राष्ट्रभाषा–राजभाषा का दर्जा दिया जाए ?'

इसमें हिन्दी के प्रचार में रत दो प्रमुख संस्थाओं की भूमिका के बारे में लिखते हुए कृष्ण कुमार लिखते हैं – ... काशी की नागरी प्रचारिणी सभा और प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिंदुस्तानी का जबर्दस्त विरोध किया। प्रेमचंद जैसे बड़े लेखक के समर्थन के बावजूद हिन्दुस्तानी का पक्ष कमजोर साबित हुआ। सेठ गोविंददास ने अपनी आत्मकथा में हिन्दुस्तानी के लिए गाँधी के समर्थन को एक राजनैतिक चाल बताया है। निश्चय ही गाँधी द्वारा की गई हिन्दुस्तानी की हिमायत उनकी राजनीति का अंग थी। उसको चुनौती देने के लिए हिंदी के पक्षधरों ने दो तार्किक आधार चुनें एक यह था कि हिन्दुस्तानी आम आदमी की बोलचाल का मुहावरा भर है। शिक्षा या संसदीय काम जैसे गंभीर उद्देश्यों को वह पूरा नहीं कर सकती। दूसरा तर्क यह था कि हिन्दुस्तानी शैली की हिन्दी राष्ट्रीय एकता को उस तरह मज़बूत नहीं बना सकती जिस तरह संस्कृतनिष्ठ हिंदी

बना सकती है, क्योंकि संस्कृत के अवशेष सभी भारतीय भाषाओं में मिलते हैं।'[20] 'हिन्दुस्तानी' अगर राष्ट्रीय एकता कायम करने में असमर्थ थी तो वह काम कर पाने में संस्कृत का आधार भी कमजोर ही रहा। 'संस्कृत' के मिथक से भारतीय भाषाओं को परस्पर जोड़ने की कोशिशें जरूर हुईं पर वे अंग्रेज़ी का सामना न कर पाईं। राजभाषा हिंदी नहीं तो कोई दूसरी भाषा के बनने पर बड़ी समस्याओं का सामना पड़ सकता था। अंग्रेज़ी द्वारा देश की राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता कायम रखने वाले भ्रम को तोड़ते हुए डॉ. रामविलास शर्मा इसके पीछे वर्गीय समस्या को मुख्य मानते हैं। 'असली बात यह है कि अंग्रेज़ी के सहारे आप एक विशेषाधिकार वर्ग बनाना चाहते हैं। ... हर प्रदेश का कारोबार वहां की भाषा में चलेगा; केन्द्रीय और परस्पर सम्पर्क का कार्य ही हिंदी के माध्यम से होगा। किसी जमाने में यहां के अल्पसंख्यक समुदायों के नेता अंग्रेज़ों के विशेष कृपापात्र होते थे। कारण यह था कि वे हमेशा यह भय दिखाते थे कि अंग्रेज़ो के बिदा होने पर बहुसंख्यक उन्हें खा जायेंगे। उसी तरह अब यह तर्क दिया जाता है कि हिन्दी वाले हमें खा जायेंगे, इसलिए अंग्रेज़ी बनी रहे ! नौकरियों में हिन्दी भाषियों को विशेष सुविधा न मिले, इसका बहुत सीधा उपाय है। 'थ्री लैंग्वेज फार्मूला' पहले से विद्यमान है। नौकरी के लिए जो परीक्षाएं हों, उनमें परीक्षार्थी के लिए दो भारतीय भाषाओं और एक यूरोपीय भाषा का ज्ञान अनिवार्य कर दीजिए।'[21] 'त्री भाषा फार्मूला' को उपाय के रूप में देखा गया, परंतु उससे कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। अंग्रेज़ी की उपस्थिति से अन्य भाषाओं पर उसका इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे अधिक से अधिक अंग्रेज़ी के शब्द–भण्डार पर निर्भर होती गई। हिन्दी भाषा का एक रूप ऐसा भी विकसित हो गया जिसमें लगभग सभी शब्द अंग्रेज़ी के समा गए, केवल व्याकरण हिन्दी भाषा का रहा। संस्कृत भाषा की मदद से गढ़ा गया शब्द–भण्डार केवल किताबों और सरकारी दफ्तरों की फाइलों तक सीमित रहा। ऐसा कृत्रिम–शब्द भण्डार न तो कभी आम जनमानस की भाषा का हिस्सा बन सका, न ही अंग्रेज़ी का स्थान ले सका।

---

20 कृष्ण कुमार – विचार का डर (लेख : हिन्दी का सपना) पृ. 134.

21 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 296.

(ii) भाषाई राज्य की अवधारणा और हिन्दी का क्षेत्र

'गाँधी जी के लिए भाषावार प्रांत बनाना आवश्यक था क्योंकि इसी तरह जनता राजकाज में भाग ले सकती थी। वे भाषावार प्रांत निर्माण को देश का विभाजन न समझते थे; वह उसे उचित ही "रिडिस्ट्रीब्यूशन ऑफ प्राविन्सेज" कहते थे।'[22] गाँधी देश के प्रांतों का विभाजन भाषा के आधार पर करना चाहते थें। इसे वे एक तरह का सांस्कृतिक स्वायत्तता प्रदान करने वाला और सामूहिक एकता को बढ़ाने वाला विभाजन मानते थे। 'प्रांतों के पुनर्गठन' पर विचार करते (1947) हुए उन्होंने लिखा था – 'कांग्रेस ने 20 साल से यह तय कर लिया था कि देश में जितनी बड़ी बड़ी भाषाऐं हैं उतने प्रांत होने चाहिए।' लेकिन गाँधी अपने समय में ही उन दिक्कतों को देखने लग गए थे जो भाषावार प्रांत बनाने में आड़े आ रही थीं – 'आज भाषावार सूबों का विभाग करने में झगड़े का डर रहता है।' यह झगड़ा वे उड़ीसा, बंगाल, बिहार और दक्षिणी प्रांतों में देख रहे थे और वे अपनी तरफ से देश में सकारात्मक राजनीतिक माहौल पैदा करना चाहते थे। 'अगर हिन्दुस्तान को दुनिया के सामने स्वाभिमान से सिर ऊँचा रखना है तो किसी सूबे और किसी जाति या तबके को पिछड़ा हुआ नहीं रखा जा सकता। लेकिन अपने उन हथियारों के बल पर हिन्दुस्तान ऐसा नहीं कर सकता, जिनसे दुनिया ऊब चुकी है। उसे अपने हर नागरिक के जीवन में और हाल में ही मेरे द्वारा बताये गए समाजवाद में प्रकट होनेवाली अपनी कुदरती तहजीब या संस्कृति के द्वारा ही चमकना चाहिए। ... इसलिए बिहार, उड़ीसा और आसाम में कुछ लोगों द्वारा की जाने वाली हिंसा के जो बुरे दृश्य देखे गए, वे कभी नहीं दिखाई देने चाहिए थे। अगर कोई आदमी नियम के खिलाफ काम करता है या दूसरे सूबों के लोग किसी सूबे में आकर वहाँ के लोगों के हक मारते हैं, तो उन्हें सज़ा देने और व्यवस्था कायम

---

22 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 372

रखने के लिए जनप्रिय सरकारें सूबों में राज्य कर रही हैं। सूबों की सरकारों का यह फर्ज है कि वे दूसरे सूबों से अपने यहाँ आने वाले सब लोगों की पूरी–पूरी हिफाजत करें।"[23] जिन काँग्रेसियों ने पहले इस प्रकार के विभाजन को उचित माना था, बाद में उन्हीं के द्वारा इस प्रस्ताव का विरोध किया गया। इसका सबसे बड़ा कारण था आधुनिक राज्य की अवधारणा में 'भाषा' सामुदायिक पहचान का आधार बन गई थी। भाषा के आधार पर सभी अपनी स्वायत्त सांस्कृतिक पहचान, व्यापारिक लाभ, नौकरियों के उचित अवसरों पर अधिकार सुरक्षित रखना चाहते थे।

डॉ. रामविलास शर्म भी भाषावार प्रांत बनाने के विरोध का आर्थिक आधार मानते हैं। 'इस प्रांत निर्माण का भरसक विरोध किया कांग्रेसी नेताओं ने। फिर लोगों को क्यों न भय होता कि उनकी भाषाएँ कभी अपने प्रदेश में राजभाषा न बनेंगी और यदि अंग्रेज़ी गयी तो उसका स्थान हिन्दी ले लेगी ? इसके अलावा मारवाड़ी पूँजीपति सारे देश में फैले हुए हैं। ये हिन्दी प्रचार के लिए तो पैसा देते हैं, लेकिन जिस प्रदेश में धंधा करते हैं, उसकी उपेक्षा करते हैं। कलकत्ते का बाज़ार मारवाड़ियों के कब्जे में होगा तो बंगाली पूँजीपति उससे टक्कर लेने के लिए बंगाली जातीयता की ज़रूर दुहाई देंगे और अपने इस 'बंगला भाषा प्रेम की लहर में वे अन्य वर्गों को भी बहा ले जाऐंगे। बम्बई का बाज़ार गुजराती पूँजीपतियों के हाथ में होगा तो महा गुजरात के आंदोलन से गुजराती पूँजीपति को दिलचस्ती कम होगी लेकिन मराठी भाषी पूँजीपति गुजराती प्रतिद्वंद्वी से टक्कर लेने के लिए महाराष्ट्र जातीयता का झंडा जरूर ऊँचा करेगा। ऐसी स्थिति मे केवल मज़दूर वर्ग उसके हाथ से यह झंडा छीन कर अंध–राष्ट्रवाद के जहर से जनता को बचा सकता है, अपने सही जातीय अधिकारों के लिए न्यायोचित लड़ाई लड़ सकता है और मज़दूर मात्र

---

23 मोहनदास करमचंद गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ. 286–288.

की एकता के आधार पर देश में अंतर्जातीय एकता स्थापित कर सकता है।'[24]

इस वितरण के आधार पर यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि 'जातीयता' की नई व्याख्या का विकास हो रहा था। स्वतंत्र भारत में नए आधार पर जातीय विभाजन किया जा रहा था यह आधार था भाषा का। 'जातीय निर्माण के उपकरण' लेख में डॉ. रामविलास शर्मा जातीयता के आधारों का विश्लेषण करते हैं। पहले इसके आधार कुल, जनपद या गण हुआ करते थे और यही वर्ग व्यवस्था के अधीन जातियाँ बँट गईं। प्रत्येक युग में जातीयता निर्माण के उपकरण अलग–अलग रहे। आधुनिक काल में पूँजीवाद के विकास के साथ नेशन की व्याख्या 'जाति' के रूप में की गई है।[25] भारत में विभिन्न भाषिक संस्कृतियाँ एक नेशन का गठन कैसे करें ? पार्थ चटर्जी भी भारत के संदर्भ में 'जाति' की अलग–अलग व्याख्याओं को प्रस्तुत करते हैं। यह जातीय विभाजन पहले इतना स्पष्ट नहीं था, वे इसे अस्पष्ट मानते हैं जोकि पहले भारतीय नहीं था।

'आधुनिक भारतीय भाषाओं में जाति को भिन्न तरीकों से व्याख्यायित किया गया। संस्कृत में इसका अर्थ जन्म व उद्‌भव था। इसी तरह वे जाति के भिन्न अर्थों को गिनाते हैं – कभी जाति का अर्थ धार्मिकता से जोड़ा गया जैसे ... मुसलमान जाति, वैष्णव जाति, भिखारी (वर्गीय स्थिति) तो कभी मनुष्य योनी, पशु जाति, आदि के अर्थ मे विभिन्न प्राणी जातियों का विभाजन। वर्ण के आधार पर, गण या कर्म आदि के आधार पर जातीय विभाजन किये जाते रहे हैं। अंग्रेज़ी में आधुनिक राष्ट्र के अर्थ में 'प्रजाति' अर्थ भी किया गया।'[26] जातीयता के ये आधार किसी न किसी रूप में भारत की आधुनिक राष्ट्रीय संरचना में आज भी मौजूद हैं। इसलिए गाँधी समुदायों की नई सांस्कृतिक पहचान भाषा

---

24 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 372

25 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 240.

26 पार्थ चटर्जी – द नेशन एण्ड इट्स फ्रेग्मेन्ट्स, पृ. 221.

के आधार आधुनिक राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे, जिसमें सांस्कृतिक आदान प्रदान की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। एक राष्ट्रभाषा, लिंग्वाफ्रांका के रहते अन्य भाषाओं के साथ भी संवाद की प्रक्रिया चलती रहेगी।

'नेशन' के अर्थ में जातीयता का प्रमुख चिह्न डॉ. रामविलास शर्मा 'भाषा' को ही मानते हैं। लेकिन इसके साथ वे ये भी मानते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में जातीय भाषाओं के गठन और प्रसार से दो भाषा संबंधी निष्कर्ष निकलते हैं – पहला यह कि जो भाषाएँ या बोलियाँ जातीय भाषाओं के रूप में विकसित होकर सामने आती हैं, वे पूँजीवाद के अभ्युदय से पहले की होती है : आर्थिक व्यवस्था बदलने से एकदम नयी भाषाओं का जन्म नहीं होता; इसलिए स्तालिन की यह स्थापना सही है कि भाषाएँ आर्थिक व्यवस्था का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब नहीं है। दूसरा यह कि आर्थिक व्यवस्था बदलने से भाषा में कोई परिवर्तन नहीं होता, यह समझना भी गलत है। पूँजीवाद से पहले जातीय भाषा के रूप में किसी भाषा का अस्तित्व न होना और पूँजीवादी विकास के साथ जातीय भाषाओं का सुगठित होना – यह एक साधारण परिवर्तन नहीं है।'[27] इस प्रकार भारतीय भाषाओं के जातीय स्वरूप के निर्माण की प्रक्रिया बहुत पहले ही शुरू हो चुकी थी जिसके अपने विशेष सामाजिक आर्थिक कारण होंगे। लेकिन वे इस बात से सहमत हैं कि विभिन्न भाषाओं को जातीय रूप में गठित करने में व्यापार और पूँजीवादी संबंधों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

भाषाई–राज्य की अवधारणा के अनुसार स्वतंत्र आधुनिक भारत भाषा के आधार पर कई राज्यों में विभाजित होगा। भारत की सांस्कृतिक बहुलता को देखते हुए उन्हें स्वायत्त बनाने और शासन सत्ता में बराबर की भागीदारी देने के लिए इस अवधारणा को

---

27 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 258.

अपनाया गया। भारत में राज्यों का राजनीतिक विभाजन का आधार भौगोलिक क्षेत्रों की प्रमुख भाषाओं के आधार पर किया गया। कुछ राज्य ऐसे भी बने जहाँ भाषा के अलावा अन्य तत्त्वों को भी महत्व दिया गया। प्रमुख भाषाओं के आधार पर ही राज्यों का नाम रखा जायेगा जो एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन रहेंगे। डॉ. रामविलास शर्मा ने इन प्रमुख भाषाओं को 'महाजातियाँ' कहा है और इनके आसपास के क्षेत्रों में बोली जाने वाली बोलियों, जिनसे इस महाजाति का निर्माण हुआ है, इन्हें लघुजातियाँ कहा है।[28] लेकिन स्वाधीन भारत में इनके निर्माण से पहले ही विरोध के तत्त्व भी उभरने लगे थे। जिन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप इनका आधुनिक रूप में गठन और प्रसार हुआ, उन परिस्थितियों की उत्तरदायी शक्तियों के द्वारा इनका विघटन विभाजन और विरोध हुआ। यह बात सिद्ध होती है उस दौरान अंग्रेज़ विद्वानों द्वारा किए गए भाषा सर्वेक्षण और विश्लेषण सें ज़्यादातर प्रयास भाषाओं को एक दूसरे से अलगाने के हुए। कभी उसकी शब्दावली और संरचना को लेकर तो कभी शुद्ध–अशुद्ध रूप को लेकर भिन्नता दिखाई। जो सांस्कृतिक अलगाव इन भाषाओं को बोलने वालों में इतना स्पष्ट रूप से नहीं था। डॉ. रामविलास शर्मा 1786 में सर विलियम जोन्स द्वारा किए गए सर्वेक्षण का उदाहरण 'हिन्दुस्तानी' अर्थात् हिन्दी के क्षेत्र के संदर्भ में देते हैं। लेकिन इसमें जब वे हिन्दुस्तानी का अलग क्षेत्र, और उसे एक अलग भाषा का दर्जा देते है तो उसे पूरी तरह से सांस्कृतिक रूप से अलगाने की नीति निहित थी। '1786 में सर विलियम जोन्स ने हिन्दुस्तानी और ब्रजभाषा का भेद करते हुए लिखा था, "हम जानते हैं कि हिन्दुस्तान खास में मुसलमानों ने लोगों को एक विचित्र गठन की सजीव भाषा बोलते सुना जिसका शुद्ध रूप आगरे के आसपास और खास कर मथुरा की काव्यमय भूमि में प्रचलित था। इसे साधारणतः ब्रजभाषा कहा जाता है। संभवतः छह में से पाँच शब्द इस भाषा में संस्कृत से आये थे।

---

28 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 271.

... लेकिन हिन्दुस्तानी का आधार, खास कर क्रिया के रूप और विकास उन दोनों से उतना ही भिन्न थे जितना अरबी फारसी से या जर्मन ग्रीक से भिन्न है।' इस उदाहरण को देने के बाद डॉ. रामविलास शर्म लिखते भी हैं कि जोन्स ने यहाँ 'हिन्दुस्तान' को हिन्दी भाषी प्रदेश के सीमित अर्थ में प्रयुक्त किया है; 'हिन्दुस्तानी' उनके लिए ब्रज से भिन्न और संस्कृत से भी भिन्न खड़ी बोली है, यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है।'[29] भारत मे कलकत्ता में 'रॉयलएशियाटिक' सोसायटी के संस्थापकों में से एक थे सर विलियम जोन्स, जिन्होंने पूर्वी देशों की भाषाओं और साहित्य व ज्ञान की सामग्री का अध्ययन कर 'प्राच्यवादी' दृष्टिकोण का विकास किया। इस तरह के दृष्टिकोण से विभिन्न भाषाओं के स्वायत्त अस्तित्व का शोध तो हुआ पर भारत के ऐसे स्वर्णिम अतीत की तस्वीर भी बनाई गई जिसके आधुनिक भारत–राष्ट्र में संकीर्ण, साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी परिणाम भी सामने आए।

भाषा सर्वेक्षण करने का उद्देश्य अधिकतर यूरोपीय विद्वानों के लिए भारतीय समाज, साहित्य और संस्कृति को जानना था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रियर्सन द्वारा किए लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया के बारे में लिखते हैं – 'एक विचित्र बात यह है कि हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता यह नहीं जानती कि वह कौन–सी बोली बोलती है। कम से कम ग्रियर्सन के समय तो यही अवस्था थी। हर बोली का नाम उसके पड़ोसियों का दिया हुआ है। पंजाब के दक्षिण और बीकानेर के उत्तर में एक बोली बोली जाती है, उसका नाम है – जंगली। परंतु बोलने वाले में से कोई भी अपनी बोली को जंगली कहने को तैयार नहीं हुआ। पड़ोसियों ने ही उसका यह नाम दे रखा था और लिंग्विस्टिक सर्वे में यह नाम भी उजागर हो गया। मेरी अपनी बोली का नाम 'भोजपुरी' है। परंतु गाँव के लोग

---

29 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 278.

यह नहीं जानते थे कि उनकी बोली का नाम भोजपुरी है। यह नाम अंग्रेज़ सिपाहियों का दिया हुआ है।' इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि भारत की अपनी पहचान को यूरोपवासियों ने जैसा दिखाना चाहा तत्कालीन भारतीय विद्वानों ने भी वैसा ही देखा। यह संभावना हो सकती है कि ऐसा उन्होंने परिस्थितियों के दबाव वश किया हो।

प्रो. बिपिन चंद्र भारत पर औपनिवेशिक प्रभावों के अंतर्गत लिखते हैं कि 'अंग्रेज़ों ने पूरे देश में उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी भाषा को लागू किया और एक सार्वजनिक शिक्षा पद्धति का विकास किया। इस पद्धति ने समय के अनुरूप पूरे देश में बुद्धिजीवी पैदा किए जिनके पास समाज को देखने के लिए सार्वजनिक तौर तरीके थे जो उपनिवेशवाद पर आलोचनात्मक टिप्पणी को करने में सक्षम थे। उन्होंने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् ऐसा किया भी। किंतु अंग्रेज़ी पर आधारित शिक्षा के दो नितांत नकारात्मक परिणाम भी थे। पहला यह कि इसने पढ़े लिखे और जनसाधारण के बीच एक गहरी खाई उत्पन्न कर दी यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा कुछ हद तक इस खाई को पाटने की कोशिश की गई। चूँकि इसके नेता एवं सदस्य बुद्धिजीवी वर्ग से आए थे किंतु यह खाई स्वतंत्र भारत में भी बनी रही। दूसरे अंग्रेज़ी पर बल देने के कारण भारतीय भाषाओं का सम्पूर्ण विकास रुक गया और जनसाधारण तक भी शिक्षा नहीं पहुँच पाई।'[30] इसलिए कांग्रेस द्वारा भाषावार प्रांत बनाने के विरोध के बावजूद गाँधी जी इसके पक्ष में थें वे चाहते थे कि राजकाज में आम जनमानस की पूर्ण भागीदारी रहे और यह तभी संभव था जब राजकाज उनकी भाषाओं में हो, उनकी भाषाओं में ही शिक्षित किया जाए।

भाषावार प्रांत बन जाने से प्रदेश विशेष की भाषा अपने प्रांत में मानक रूप में प्रतिष्ठित होकर वहाँ के लोगों की समस्याओं को केंद्र तक पहुँचा सकती है। लेकिन इसके

---

30 प्रो. बिपिन चंद्र : भारत का स्वतंत्र संघर्ष, पृ. 431.

साथ ही गाँधी जी यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'अलग प्रांत बनने के बाद वे यह न समझ लें कि बम्बई का महाराष्ट्र से कोई संबंध नहीं, महाराष्ट्र का कर्नाटक से कोई संबंध नहीं और कर्नाटक का आंध्र से कोई संबंध नहीं।'[31] गाँधी कौमी झगड़ों के दबाव को महसूस कर रहे थे, उस पर भाषावार सूबों से पैदा हुई नई दिक्कतें चाहे वे उड़िया के नए सूबे बन जाने से हों, या बंगाली और बिहारियों के बीच या द्राविड़ स्थान का मसला हो। इससे उबरने के लिए परस्पर एकता का सूत्र गाँधी देते हैं – 'रोम में रोमनों की तरह रहो।' इसके पीछे उनका आशय था प्रदेश विशेष की अच्छाइयों को अपनाकर बुराइयों को छोड़ दिया जाए। 'बंगाल में एक गुजराती के नाते मुझे बंगाल की सारी अच्छाइयों को तुरंत पचा लेना चाहिए और उसकी बुराई को कभी छूना भी नहीं चाहिए। मुझे हमेशा बंगाल की सेवा करनी चाहिए; अपने फायदे के लिए उसे चूसना नहीं चाहिये। दूसरों से बिलकुल अलग रहनेवाली हमारी प्रांतीयता जिंदगी को बरबाद करनेवाली चीज है। मेरी कल्पना के सूबे की हद सारे हिन्दुस्तान की हदों तक फैली हुई होंगी, ताकि अंत में उसकी हद सारे विश्व की हदों तक फैल जाए वर्ना वह खत्म हो जाय।'[32] अंग्रेज़ों द्वारा विभिन्न भाषिक संस्कृतियों के विकास को रोकने के प्रयास हुए। इससे भाषाओं का विकास रुका और तत्कालीन प्रान्तों में बसी भाषिक संस्कृतियों के बीच वैमनस्य का 'दूषित भाव' भी बढ़ा। स्वतंत्रता पूर्व ही इस तरह के भाव पनपने लगे थे जिसे डॉ. रामविलास शर्मा इतिहासकार श्यामाचरण गांगुली द्वारा लिखित 1911 में 'मॉडर्न रिव्यू' के उद्धरण के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। बंगाल विभाजन के बाद की स्थितियों का विश्लेषण करते हुए डॉ. शर्मा का मत है कि 'जातीयता का एक दूषित भाव उस समय भी उत्पन्न होता है जब किसी जाति के लोग अपनी मांगों के लिए अकेले लड़ते हैं और देश के बाकी लोग तटस्थ और उदासीन रहते

---

31 मोहनदास करमचंद गाँधी : मेरे सपनों का भारत, पृ. 287.

32 वही, पृ. 288.

हैं। ऐसी जाति में उत्पीड़न और अहंकार की भावना उत्पन्न होती है ... इस तरह की खतरनाक भावग्रंथियां अनेक जातियों की संयुक्त कार्यवाही से ही दूर की जा सकती हैं।' यह कैसे संभव है ? इसे वे श्यामाचरण गांगुली के हवाले से स्पष्ट करते हैं '... बंगभंग के प्रश्न को हम और ऊँचे धरातल पर ले जायें और एक बंगाली प्रश्न को भारतीय प्रश्न बना दें। यदि हम समग्र बंगाली जनता के प्रशासकीय एकीकरण की समस्या को इस वृहत्तर समस्या में मिला दें कि भाषा के आधार पर भारत के प्रशासकीय विभाग (अर्थात् प्रांत) बनने चाहिए, तो उपर्युक्त उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। बंगाल के वर्तमान विभाजन में तब्दीली इस तरह की नीति का आवश्यक अंग होगी। यदि विच्छिन्न होकर विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अंतर्गत रहना बंगालियो के लिए बुरा है, तो इसी तरह हिन्दुस्तानियों, मराठों और उड़िया लोगों के लिए भी विछिन्न होकर विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अंतर्गत रहना बुरा होगा। संयुक्त प्रदेश के हिन्दुस्तानी पंजाब के दिल्ली विभाग के हिन्दुस्तानियों से बिहार, छोटा नागपुर के एक हिस्से और मध्य प्रदेश के हिन्दुस्तानियों से अलग रखे गए हैं; बम्बई प्रेसीडेन्सी के मराठे मध्यप्रदेश के मराठों से अलग रखे गये हैं। बंगाल प्रांत के उड़िया मद्रास के गंजम जिले के उड़िया लोगों से दूर रखे गए हैं। लेकिन बहुत दिनों से अलगाव की हालत में रहते चले आना एक बात है और बहुत दिनों तक संयुक्त रहने के बाद फिर अलगाव की हालत में आना दूसरी बात है ...।'[33] इस प्रकार डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं कि भाषावार प्रांत बनने से अगर भाषाओं का विकास होगा तो वहीं दूसरी ओर साम्प्रदायिकता, अलगाववाद जैसे खतरे भी पैदा हो सकते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि जातीय स्वायत्तता की समस्या वर्गों के भेद की समस्या से जुड़ी हुई हैं। गरीब जनता और वर्गों की समस्या को मुख्य मानते हुए वे इस बात को स्पष्ट करते हैं कि क्यों अधिकतर जातीय आंदोलन विफल रहे और समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहीं। जातीय

---

33 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 281.

आंदोलनों से जुड़े अहंम् सवाल कुछ और होने चाहिए थे और कैसे उनकी दिशा बदल गई। 'स्वाधीन भारत के अनेक जातीय आंदोलनों में यह रुझान साफ दिखाई दिया है कि देश के समाजवादी नवनिर्माण की मूल समस्या गौण हो गयी है और भाषा के आधार पर राज्य बनाने की समस्या मुख्य हो गई है। ... इसलिए जातीय आंदोलन हिंसा–द्वेष और अलगाव की भावना से बहुत जल्दी पीड़ित हो जाते हैं जिससे न देश का हित होता है, न किसी जाति विशेष का। जातीय समस्या को गौण समझकर उसे छोड़ देना भी हानिकर है। यदि जन–साधारण का संगठन करने वाले प्रगतिशील विचारक इस समस्या की उपेक्षा करेंगे तो साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उसे अपने हित में इस्तेमाल करेंगी और श्रमिक जनता के संगठन और आंदोलन पर ही वार करेंगी।'[34] स्वाधीनता के बाद यह समस्या उभरी भी जिसके भयानक दुष्परिणाम सामने आए – घृणा, हिंसा, दंगे, अलगाववाद, आतंकवाद और साम्प्रदायिकता के रूप में। पंजाब प्रांत सबसे हाल का उदाहरण है जहाँ 'भाषा' का मसला प्रमुख हो उठता है और नए किस्म की साम्प्रदायिकता को जन्म देता है।

पंजाब एक स्वतंत्र प्रांत बन चुका था लेकिन इसके बावजूद वहाँ 'भाषा' और 'धर्म' की आड़ में इस तरह का अलगाववाद पैदा हुआ। हिंसा भड़की जिसे आतंकवाद का नाम दिया गया। पॉल ब्रास इन भाषिक विवादों को चाहे वह बिहार में मैथिल भाषा का आंदोलन हो, भारत–पाक विभाजन में हिन्दी–उर्दू का विवाद हो या पंजाब में सिक्ख धर्म और पंजाबी भाषा को लेकर अलग सूबे की माँग हो – वे इसे अभिजन समूह की विचारधारा का परिणाम मानते हैं। अभिजन समूह के पास सत्ता व शक्ति होती है जो आम जन–मानस के विश्वासों, आस्था और भावनाओं को प्रतीक बनाकर उनका राजनीतिक

---

34 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 281.

प्रयोग करता है। 'स्वाधीनता के बाद भी इस तरह की पृथक्कतावादी मांगें बार–बार उठती रही हैं, अलग–अलग हिस्सों और प्रांतों में – काश्मीर में, मद्रास में, नागालैण्ड में और आसाम में।'[35]

इन सभी प्रांतों में स्वाधीनता से पूर्व और बाद में भी अपनी स्वायत्त जातीय पहचान और अधिकारों की समस्या के साथ जो दूसरी प्रमुख समस्या रही, वह थी – 'हिन्दी' का केन्द्र की भाषा के रूप में लादा जाना। जबकि हिन्दी किसी प्रदेश विशेष की भाषा न बनी फिर भी उसे देश भर की भाषा के रूप में अपनाकर राजभाषा और राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया गया। यह विरोध सांस्कृतिक कारणों से इतना न था जितना कि आर्थिक और राजनीतिक। हिन्दी कई प्रांतों में बोली जाती। जिन क्षेत्रों में बोली जाती वहाँ की कई और क्षेत्रीय बोलियाँ व भाषाएँ बोली जातीं। डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी का अपना कोई एक जातीय प्रदेश न होते हुए भी एक 'महाजाति' के रूप में स्थापित करते हैं जिसमें ब्रज, अवध ी आदि लघु जातियों का विलय हुआ। वे इसके भाषागत कारण न ढूँढकर उसे 'सामाजिक विकास क्रम में जातीय भाषा के रूप में उसके प्रसार और गठन को ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य घटना मानते हैं।' वे हिन्दी भाषी प्रदेश के निर्मित होने के कारण देते हैं – 'हिन्दी भाषी प्रदेश में 'दिल्ली' व्यापार और राजनीतिक जीवन का केन्द्र रहा। वह खड़ी बोली बोलने वाले प्रदेश का केंद्रीय नगर था। दिल्ली की बोली के आधार पर हिन्दी–उर्दू का विकास हुआ। ... इसके सिवा तुर्कों और मुगलों के शासनकाल में दिल्ली उत्तर भारत में राज्य सत्ता का बहुत बड़ा केंद्र थी। इस कारण भोजपुरी या अवधी जातीय भाषा के रूप में विकसित न हुई, जातीय भाषा बनी दिल्ली केंद्र वाली खड़ी बोली।'[36] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी खड़ी बोली में साहित्य रचना के आरंभ और विकास में दिल्ली

---

35 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 16.

36 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 272, 273.

और उसके आसपास के केन्द्रों के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। 'खुसरो ने विक्रम की 14वीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ–साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से फारसी मिश्रित खड़ी बोली या रेखता में शायरी भी शुरू हो गई ...।'[37] यहाँ हिन्दी के नाम के साथ जुड़ा इतिहास और उसके गठन का संक्षिप्त विवरण देना अनिवार्य हो जाता है।

'जिस प्रदेश में व्यापार के कारण खड़ी बोली का प्रसार हुआ उसका पुराना नाम हिन्दुस्तान था; मुसलमान शासक इस प्रदेश की भाषा को हिंदी, हिंदवी या हिंदुई कहते थे। यह सही है कि हिन्दुस्तान नामक प्रदेश की सीमाएं निश्चित नहीं थीं और हिन्दी या हिंदवी से हमेशा खड़ी बोली का बोध न होता था। असमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि हिंदी भाषी प्रदेश की सीमाएं आज भी निश्चित नहीं हैं, कुछ लोग उर्दू को इलाकाई जबान मानते हैं और उर्दू का इलाका हिंदी के इलाके से भिन्न मानते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रज, अवधी और मैथिल साहित्य का विवेचन होता है अर्थात् साहित्य के इतिहासकार हिंदी शब्द का प्रयोग खड़ी बोली के सीमित अर्थ में नहीं करते ...।'[38]

ब्रिटिश राज में हिन्दी या हिन्दुस्तानी पूरे संयुक्त प्रांत में बोली जाती थी। क्षेत्रीय और स्थानीय बोलियों के साथ मिलकर उसके कई रूप प्रचलित थे। उसे राष्ट्रभाषा बनाना, पूरे देश की भाषा मानकर उसका प्रतिष्ठित व मानक रूप तैयार करना स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। इसका संबंध राजनीति से है जो 'भाषा के भूगोल' को प्रभावित करती है। डॉ. रामविलास शर्मा किसी भाषा के जातीय गठन और प्रसार की प्रक्रिया का अध्ययन 'भाषा के भूगोल' के आधार पर ही करते हैं। क्षेत्र विशेष की राजनीतिक और आर्थिक

---

37 आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 224.

38 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 276.

भूगोल की प्रक्रियाएं भाषाओं के जातीय रूप का गठन व प्रसार करती हैं। केवल भाषा के आधार पर किसी जाति का गठन नहीं होता, ऐसा डॉ. रामविलास शर्मा का मत है, जिसे वे केवल 'हिन्दी' के संदर्भ में ही नहीं, रूस में उक्रेनी, आस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी में जर्मन भाषा और आयरलैण्ड, स्कॉटलेण्ड, लंदन, चीन आदि क्षेत्रों की भाषा के जातीय गठन का विश्लेषण करके सिद्ध करते हैं।'[39] वे लिखते हैं – 'भाषा संस्कृति और इतिहास उन बिखरे हुए तत्त्वों को किसी महाजाति में मिलने से बचाते हैं जो अनुकूल परिस्थिति में स्वयं एक जाति बन सकते हैं। जातीयता के रक्षण में भाषा की भिन्नता एक प्रमुख कारण होती है। लेकिन भाषा जातीय विशिष्टता का एक कारण है एकमात्र कारण नहीं।'[40]

खड़ी बोली एक सामान्य भाषा के रूप में विकसित हुई जिसमें औद्योगिकरण और प्रिंटिंग प्रेस की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पॉल ब्रास 1873 से 1970 तक हिन्दी, उर्दू, अंग्रेज़ी के पत्रों के आंकड़े प्रस्तुत करते हैं, जिनमें हिन्दी के पत्रो की संख्या हमेशा सबसे अधिक रही। लेकिन इससे पहले ही भारत के अंदर जिन प्रांतो में व्यापार और लेनदेन होता था, उसके माध्यम के रूप में एक सामान्य–भाषा विकसित होती चली गई। डॉ. रामविलास शर्मा स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि – 'व्यापार की सामान्य भाषा खड़ी बोली थी।' यह केवल उत्तर भारत के संदर्भ में सच हो सकता है, सम्पूर्ण भारत के संदर्भ में नहीं। इसके बावजूद हिन्दी का अपना कोई निश्चित क्षेत्र न बन पाया, तब वह सम्पूर्ण देश की सामान्य भाषा होने का दावा कैसे करने लगी। इस प्रश्न को 19वीं सदी की स्थितियों के संदर्भ में डॉ. वीर भारत तलवार भी उठाते हैं। 'उन ऐतिहासिक कारणों को समझने की कोशिश बहुत कम हुई है कि क्यों पश्चिमोत्तर प्रांत का हिंदी भाषी समाज खुद को पूरे भारत राष्ट्र का प्रतिनिधि समझने लगा ? जबकि और प्रांतों में जैसे बंगाल, महाराष्ट्र या तमिलनाडु में

---

39 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 270.

40 वही, पृ. 270.

अपनी अपनी जातीयता का बोध ज्यादा प्रबल रहा है, भारतीयता का बोध कम। पश्चिमोत्तर प्रांत के हिंदू उर्दू भाषियों में खुद को क्षेत्रीय रूप में देखने के बजाय अखिल भारतीय रूप में देखने की प्रवृत्ति ज्यादा दिखाई देती है। क्या क्षेत्रीय जातीयता की भावना का ऐतिहासिक विकास कम होने के कारण; उस खाली जगह को भरने के लिए, उनमें खुद को अखित भारतीय रूप में देखने की मानसिकता पैदा हुई ?'[41]

सन् 1963 में राजभाषा सबंधी अधिनियम बनाए जाते हैं। जिसमें ऐसे राज्य जिन्होंने हिन्दी को अपनी राजभाषा के रूप में नहीं अपनाया, उनके लिए अंग्रेज़ी के प्रयोग को निश्चित किया जाता है। अनुवाद इसमें उपबंद का काम करता है। इस अधिनियम में कुछ और निगम जोड़कर 1976 में अधिसूचना जारी की जाती है, जिसके तहत हिन्दी के क्षेत्र तय किए जाते हैं और उनके प्रयोग के अनुसार उनका वर्गीकरण किया जाता है। इसमें 'क' क्षेत्र के अंतर्गत, बिहार, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश के राज्य तथा दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र रखे गए। ये वे क्षेत्र हैं जिन्हें हिन्दी भाषी क्षेत्र माना गया। 'ख' क्षेत्रों में गुजरात, महाराष्ट्र और पंजाब के राज्य तथा अण्डमान और निकोबार द्वीप तथा चण्डीगढ़ संघ राज्य क्षेत्र रखे गए। इन्हें द्विभाषी क्षेत्र माना गया जहाँ हिन्दी के साथ वहाँ की क्षेत्रीय भाषाएं बोली व समझी जाती हैं। अंतिम 'ग' क्षेत्र में देश के बाकी सभी राज्य रखे गए जहाँ हिन्दी बहुत कम या नहीं समझी जाती।[42] स्वतंत्रता से पूर्व हिन्दी भाषी राज्य बनाने की माँगें भी आईं पर किन्हीं कारणों से यह संभव न हो पाया। '1946 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने संविधान सभा के लिए जो मसौदा तैयार किया था, उसमें भाषा के आधार पर बनने वाले राज्यों में एक राज्य का नाम दिया था

---

41 डॉ. वीर भारत तलवार – रस्साकशी, पृ. 303.

42 ऑफिशियल लैंग्वेज़ ऑफ द यूनियन, पृ. 32.

'हिन्दुस्तान' ।[43] 1946 तक भारत में 'धर्म' और 'भाषा' जैसे तत्त्व साम्प्रदायिक रूप ले चुके थे। गाँधी इसलिए 'हिन्दुस्तानी' भाषा का समर्थन कर रहे थे न कि 'हिंदी' का। 'हिंदी' का पक्ष लेने वाले भी उस समय दो वर्ग बन गए थे – एक हिंदी के पक्ष में था जो उसकी जड़ें संस्कृत से जोड़ रहा था, दूसरा हिन्दुस्तानी के पक्ष में था। इसलिए 'हिन्दुस्तानी' राज्य बन पाना संभव न हुआ। हिंदी का क्षेत्र तय करने में काफी हद तक साम्प्रदायिकता की समस्या भी आड़े आई। स्वाधीनता के बाद यह तय किया गया कि राज्यों का विभाजन धर्म के आधार पर नहीं, संस्कृति और भाषा के आधार पर ही किया जाएगा। जितनी क्षेत्रीय समस्याएँ धर्म के आधार पर अगर अपनी माँगें रखती हैं तो उन्हें स्वीकार नहीं किया जाएगा। इसका कारण धर्म के आधार पर भारत–पाकिस्तान का विभाजन था। लेकिन जैसा कि पॉल ब्रास लिखते हैं – पंजाब की क्षेत्रीय समस्या के बारे में 'यह बात सभी को स्पष्ट थी कि पंजाब जिस आधार पर अपनी माँगें रख रहा है, वह है वही पुरानी माँग पर दूसरे रूप में। धर्म के बजाय अब भाषा के आधार पर उसे उठा कर सिक्खों के अलावा अन्य समुदायों की सहमति प्राप्त कर रहा है और सरकार से अपनी माँगें स्वीकार करवाने के लिए उसे पहले से ज्यादा वैधानिक बता रहा है।[44] राष्ट्रभाषा की सांस्कृतिक आवश्यकता के साथ–साथ अब राज्यों की सांस्कृतिक स्वायत्तता की माँग की जाने लगी। राजनीति के दायरे संकुचित होने लगे। सभी भाषाओं को अपने राज्य में राजकाज की भाषा बनाया गया इसके बावजूद हिन्दी कभी भी केन्द्र में अपनी जगह पूरी तरह से नहीं बना पाई। उसकी जगह अंग्रेज़ी लेती गई और प्रांतीय भाषाओं की जगह भी अंग्रेज़ी ही अपना विस्तार करती गई। जिस आधार पर सांस्कृतिक–भाषिक अस्मिताओं के विकास की बात उठाई गई थी, वे आधार तो पीछे ही छूट गए, या कितने निरर्थक साबित हुए यह इससे साबित होता है कि कोई भी भारतीय भाषा अंग्रेज़ी को चुनौती नहीं दे पाई। देती भी कैसे ? उसे यह स्थान खुद देश की भाषाओं ने दिया और उसके साथ ही अपने विकास के रास्तों को बंद कर दिया।

---

43 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 279.

44 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 17.

(iii) भाषाई विवाद और सांस्कृतिक एकता

किसी भी बहुजातीय देश में केन्द्रीय भाषा के लिए या तो कोई एक भाषा चुनी जाएगी या शिक्षित जनों को वे सभी भाषाएं सीखनी होंगी जिनमें केन्द्रीय राजकाज होगा। छोटे देशों में एक से अधिक राज्य भाषाएं रखना संभव है; भारत जैसे बहुजातीय देश में यह संभव नहीं है। हिन्दी विभिन्न प्रदेशों के बीच कई शताब्दियों से परस्पर सम्पर्क का माध्यम बनी हुई है। उस प्रक्रिया को आगे बढ़ाना चाहिए।

— रामविलास शर्मा[45]

अनेक प्रकार की संकीर्ण निष्ठाएं जो जाति, भाषा, धर्म, सम्प्रदाय और क्षेत्र से सम्बन्धित होती है, एशिया के समाजों में पाई जाती हैं। हमें इन समस्याओं को गरीबी की संस्कृति और अभाव की राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा।

— श्यामाचरण दुबे[46]

भारत में अधिकतर लोग दो या तीन भाषाओं की समझ रखते हैं। खासकर शिक्षित समुदाय दो या तीन भाषाओं पर अधिकार रखने का सामर्थ्य रखता है। एक उसकी मातृभाषा, दूसरी भाषा अंग्रेज़ी और बतौर राष्ट्रभाषा के उसके लिए हिन्दी जानना आवश्यक है। पर समय समय पर दूसरी प्रांतीय भाषाओं की तरफ से प्रतिरोध उठते रहे हैं। हिन्दी–अंग्रेज़ी के अलावा प्रांतीय भाषाओं में सिविल परीक्षाओं और अन्य अखिल भारतीय परीक्षाओं का प्रावधान किया जाना चाहिए। इसके अलावा प्रमुख रूप से केन्द्र सरकार के आगे भाषिक संस्कृतियों की स्वायत्तता को लेकर अलग राज्य बनाने की राजनीतिक माँगें आती रही है। इन राजनीतिक माँगों के पीछे कई बार आम जनता की

---

45 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 405.

46 श्यामाचरण दुबे – परम्परा और परिवर्तन, पृ. 27.

सहमति या जन–आंदोलन की भूमिका भी रही। परंतु मुख्यतः ये सत्ता में स्थान बनाने के लिए विशेष रूप से राजनीतिक शक्ति रखने वाले वर्ग की ही माँग रही है। प्रांतीय भाषाओं की मुख्य समस्या यही रही कि हिन्दी उन पर लादी जा रही है। इसलिए हिन्दी का विरोध और अपनी 'भाषा' को आधार बनाकर सरकार के आगे विशेष माँगें रखी जाती रही हैं। इस तरह की माँगें देश के लिए किसी न किसी तरह खतरा पैदा करती रहीं। राष्ट्र के विखण्डन की और उसकी अखण्डता को चुनौती देने की समस्याएँ कई बार सामने आई हैं। पॉल ब्रास इसका प्रमुख कारण हिन्दू चेतना और हिन्दी भाषा के बीच परस्पर संबंध स्थापित करने वाले क्षेत्र – उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश, हरियाणा और बिहार में केन्द्रित मानते हैं। जिन पर दक्षिण भारत और पूर्वी क्षेत्रों ने प्रभुत्वशाली होने का आरोप लगाया। पॉल ब्रास कहते हैं कि हिन्दू राष्ट्रवाद और हिंदी की भावना पूरे राष्ट्र की भावना कभी नहीं बन पाई, यह भी केवल कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है। वास्तविकता यह है कि अनेक दावों के बावजूद हिन्दी कभी भी केंद्र में एक प्रभुत्वशाली भाषा नहीं बन पाई, रही बात दूसरी भाषाओं पर अपना वर्चस्व कायम करने की जो इसका कोई अर्थ नहीं। वे भारत को ऐसे राज्य के रूप में देखते हैं जहाँ बहु–राष्ट्रीयताएँ अपना विकास कर रही हैं। ... आज़ादी के बाद से ऐसा कोई समय नहीं रहा जब भारत की अखण्डता को चुनौती न मिली हो। काश्मीर, मद्रास, नागालैण्ड और आसाम से विखण्डन की मांगें उठती रहीं। जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय शासन के लिए भाषा के आधार पर प्रांतों का पुनर्निर्माण करने का काम मुश्किल हो गया। विखण्डन के भय से प्रांतों के निर्माण में सरकार ने अनिच्छा दिखाई और भाषिक संस्कृतियों की बहुलता व भिन्नता के बीच एकता कायम की कोशिशें कीं।[47]

---

47 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 16.

भाषाई विवादों के पीछे वास्तविक समस्याएँ कुछ और थीं, उनके अंतर्निहित अर्थों पर 'भाषा' का कवर चढ़ाया जा रहा था। इन सभी समस्याओं से छुटकारा पाने का समाधान 'अंग्रेज़ी' को राजभाषा बनाकर किया गयां लेकिन क्या 'अंग्रेज़ी' देश की सांस्कृतिक एकता का विकास कर पाई ? अंग्रेज़ी के राजभाषा बनने के बाद भी भाषाई अस्मिता और क्षेत्रीय संस्कृतियों द्वारा अपने अधिकारों के लिए माँगें उठती रही हैं। इसलिए राष्ट्रभाषा के संबंध में लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा इस बात पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं कि जिन लोगों ने हिन्दी को लादी हुई भाषा कह कर अस्वीकार किया, उन्होंने यह कैसे स्वीकार कर लिया कि 'अंग्रेज़ी भाषा कभी जनता पर जबरदस्ती लादी नहीं गयी।' वे डॉ. चाटुर्ज्या के मत और स्थापनाओं कि – 'अंग्रेज़ी विश्व सभ्यता की भाषा है', 'अहिन्दी भाषियों तक ज्ञान के मूल स्रोत अंग्रेज़ी के माध्यम से ही पहुँचते हैं', और 'अंग्रेज़ी से देशभक्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं।' – इसका विरोध करते हैं।'[48]

डॉ. रामविलास शर्मा इन विवादों के पीछे जो वास्तविक समस्याएँ हैं, उन्हें व्यापक परिदृश्य में देखते हैं। वे अंग्रेज़ी के माध्यम से देश में 'मानवतावाद' स्थापित करने वाली राजनीति को 'समाजवाद' विरोधी मानते हैं। अंग्रेज़ी भाषा को वे वर्ग विशेष की भाषा मानते हैं। इसे वे सामंतवाद व पूँजीवादी समाज द्वारा उत्पन्न की गई समस्या के रूप में देखते हैं।'... यह वर्ग जनता से अलग होगा जैसे संस्कृत के कुछ विद्वान अपने को जनता से अलग समझते हैं। यह उच्च संस्कृति अंग्रेज़ी से प्राप्त होगी, फिर भी अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग आम जनता से दूर न रहेंगे ? एक तरफ अंग्रेज़ी जनतंत्र का पाठ पढ़ाती है, दूसरी तरफ हमें उच्च संस्कृति देकर जनता से अलग करती है। असली बात यह है कि अंग्रेज़ी के सहारे आप विशेषाधिकारी वर्ग बनाना चाहते हैं, जो जनता पर हुकूमत करे ...।'[49]

---

48 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 340, 391.

49 डॉ. रामविलास शर्मा – भाषा और समाज, पृ. 396.

पॉल ब्रास इन भाषाई विवादों की आंतरिक जाँच पड़ताल करते हैं तो डॉ. रामविलास शर्मा इन आंतरिक समस्याओं को बाह्य वैचारिक शक्तियों से भी जोड़ते हैं। एक इसे अभिजन समूह की राजनीति मानता है तो दूसरा उसे वर्गीय भेद की समस्या। से दोनों मत एक दूसरे से बहुत अलग नहीं हैं। न्गुगी वा थ्योंगो भी भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल को पूँजीवाद द्वारा उत्पन्न परिस्थितियाँ साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद के संदर्भ में देखते हैं। जिस तरह भारत की भाषाई समस्या का हल अंग्रेज़ी के द्वारा ढूंढा जा रहा है उसी तरह अफ्रीकी भाषाओं की जगह अंग्रेज़ी ने अपने को स्थापित कर लिया है। अपनी मातृभाषा में लिखना और अंग्रेजी के व्यवहार को बंद करना उनके लिए भी उसी तरह अजीब बात ठहराई जाती है जैसे भारत में कोई हिन्दी में साहित्य रचना करे। 'किसी अफ्रीकी बच्चे की औपचारिक शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा हो गई। जो पुस्तकें उसे पढ़ने को मिलीं वे विदेशी भाषा में थीं उसकी संकल्पना के लिए जो उपकरण मिले वे विदेशी भाषा में मिले। उसके अंदर जो विचार पैदा हुए, उन्होंने जो आकार ग्रहण किया, उसे गढ़ने में विदेशी भाषा का योगदान रहा। इस प्रकार स्कूल में पालन पोषण के दौरान किसी बच्चे की लिखित भाषा, घर में बोलने वाली भाषा से पूरी तरह अलग हो गई। प्रायः ऐसा होने लगा कि बच्चे की लिखित भाषा और परिवार तथा समुदाय के एकदम निकट परिवेश की भाषा के बीच तनिक भी संबंध नहीं रहा।' इस प्रकार की स्थिति को वे औपनिवेशिक विमुखता' का नाम देते हैं जिसमें सांस्कृतिक विभाजन की प्रक्रिया शामिल है। 'भाषा' के माध्यम से एक 'अजनबी संस्कृति में प्रवेश' और अपनी संस्कृति से अलगाव होता है। 'चूँकि संस्कृति का काम महज विश्व को बिम्बों में अभिव्यक्त करना नहीं है बल्कि उन बिम्बों के जरिए विश्व को एक नई दृष्टि से देखने का तरीका भी विकसित करना है। औपनिवेशिक बच्चे ने विश्व को एक ऐसी दृष्टि से देखने का तरीका भी विकसित किया अथवा उसे इसके लिए मजबूर किया गया जो उस पर थोपी गई भाषा की संस्कृति से पैदा

हुई थी।'[50] एक तरफ बाह्य विचारधारात्मक दबाव है, जिसमें यह अहसास है कि हम पिछड़े हैं, हमारी भाषाएँ पिछड़ी इसलिए यदि अपनी आंतरिक समस्याओं को सुलझाना है तो हमें उन उन्नत व विकसित संस्कृतियों का अनुकरण करना सिखाया जाता है, उनकी भाषाओं को अपनाना मजबूरी बन जाता है। दूसरी तरफ परस्पर आंतरिक संघर्ष है, पर यदि यह सिर्फ एक वर्ग विशेष का सत्ता का संघर्ष है, आम जनमानस की चेतना को छलने का, उसकी भावनाओं और विश्वासों को प्रतीक बनाकर इस्तेमाल करने वाली राजनीति द्वारा खड़ा किया गया विवाद है तब इसके प्रतिरोध में कोई जन आंदोलन क्यों नहीं विकसित किया जा सकता ?

भाषाओं और विभिन्न सांस्कृतिक समुदायों के परस्पर समन्वय के प्रयास हुए भी हैं तो वे पूँजीवाद और औपनिवेशिक दासता से मुक्ति के कम और सरकारी तंत्र के अंदर विभिन्न जातीयताओं को समायोजित करने के अधिक। बिपिनचंद्र पंजाब समस्या के संदर्भ में लिखते हैं कि – 'पंजाब समस्या–समाधान की समझौतों वाली रणनीति कई कुधारणाओं और भ्रांत सूचनाओं से ग्रस्त है। प्रथम, यह मान लिया जाता है कि उग्रवादी व खालिस्तानी हद से हद सत्ता के भूखे हैं और पद पाने पर सिर्फ स्वार्थ देखने वाले या निम्न स्तर पर जाकर मात्र तस्कर भयादोहक आदि हैं तथा किसी वैचारिक प्रतिश्रुति से वंचित हैं। पर ऐसा है नहीं। हमें यह जानना चाहिए कि वे लोग कम से कम उनके नेतागण, एक विचारधारा और आदर्श से परिचालित हैं। भले ही ये आदर्श कितने भी अनुचित हों। हमें तो उनकी आस्थाओं के शौर्य को स्वीकारना ही चाहिए। पंजाब के उग्रवादी निश्चितत: सत्ता चाहते हैं, पर वे ऐसी सत्ता पंजाब में चाहते हैं जो लोकतंत्र अथवा भारतीय संविधान के प्रतिबंधों से बाधित न हो। किसी पद लोभ के अनुदान तथा संरक्ष्ण

---

50 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 27, 28.

या प्रश्रय के द्वारा वे खरीदे नहीं जा सकें।'[51] उग्रवाद, आतंकवाद और अलग राष्ट्र की माँग के मुद्दों के पीछे भाषा, संस्कृति, परमपरा, जातीय भावना आदि तत्त्व प्रतीक रूप में काम करते हैं। डॉ. श्यामाचरण दुबे परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना को आंशिक रूप से तथ्यों पर आधारित किंतु मुख्यतः मानसिक पुनर्रचनाएँ मानते हैं। 'नये संदर्भ उन्हें नए मोड़ देते हैं, विशेष स्थितियों में उनके अर्थ और प्रकार्य भी बदल जाते हैं। व्याख्या का विभ्रम उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, जब पुनर्रचना की प्रक्रिया ज्ञात सामाजिक तथ्यों और ऐतिहासिक यथार्थ से कटकर नए मिथकों और प्रतीकों को अपना लेती है।'[52] आपकी भाषा व संस्कृति ऐसे प्रतीक के रूप में तबदील कर दी जाती है जिसका प्रयोग आपके ही खिलाफ किया जाता है। ' हिन्दी–उर्दू' विवाद ऐसे ही प्रतीक के रूप में देखा जाना चाहिए। जब इनकी भूमिका सत्ता या पद के लोभ की पूर्ति नहीं कर पाती तब इन्हें उपेक्षित मानकर छोड़ दिया जाता है या पिछड़ेपन का प्रतीक बना दिया जाता है। भाषाई विवाद और सांस्कृतिक एकता एक दूसरे से भिन्न नहीं है क्योंकि संस्कृति और भाषा को जोड़ कर ही विवाद उत्पन्न किए जाते रहे हैं। राजनीति में अक्सर जब सांस्कृतिक एकता की बात की जाती है तो वह विभिन्न भाषाओं को बोलने वाली संस्कृतियों की एकता की नहीं बल्कि एक भाषिक समुदाय के भीतर सांस्कृतिक एकता कायम करके अपनी स्थिति सुरक्षित रखना चाहती है या केन्द्रीय सत्ता में अपनी अलग जगह बनाना चाहती है। 'संस्कृति के क्षेत्र में सत्ता की क्रियाशीलता बढ़ने पर टिप्पणी करते हुए श्यामाचरण दुबे लिखते हैं – 'राजनीति द्वारा संस्कृति के उपादानों और प्रतीकों का उपयोग लंबे समय से होता आया है। ये समर्थन जुटाने और राजनीतिक उपयोग के लिए समुदाय को समाकलित करने में उपयोगी सिद्ध हुए हैं। संस्कृति के साथ स्थिति के

---

51 बिपिन चंद्र : समकालीन भारत, पृ. 139.

52 श्यामाचरण दुबे : परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति, पृ. 16.

अनुसार, जातीयता, क्षेत्रीयता, धर्म और भाषा के प्रश्न भी जोड़ दिये जाते हैं। राजनीति की व्यूह रचना में संस्कृति का खुलकर उपयोग किया गया है, कभी शुद्ध सांस्कृतिक उद्देश्यों के लिए कभी राजनीतिक लाभ–सत्ता की प्राप्ति के उद्देश्य से अधिकांशतः दोनों प्रकार के उद्देश्य मिश्रित होते हैं।'[53]

संस्कृति के राजनीतिक प्रयोग के कारण ही आज देखा जा सकता है कि क्षेत्रीय पार्टियाँ साझा सरकार बनाकर सत्ता में इस्तक्षेप कर रही हैं। इसे किस रूप में देखा जाना चाहिए ? क्या क्षेत्रीय व प्रांतीय भाषाओं का नेतृत्व करने वालों की बढ़ती भागीदारी है ? यह भागीदारी एक ऐसा राजनीतिक समीकरण है जिसमें भाषाओं का मुद्दा पीछे छूट गया और बाकी बातें ऊपर उभर आईं। जो वस्तुस्थिति है उसे श्यामाचरण दुबे के शब्दों में कहें – 'सत्ता और संख्या का उभरता समीकरण आज की बढ़ती हिंसा के पीछे है। दर्शन, भक्ति और देश प्रेम अब स्वार्थ के संघर्ष को रोक सकने में असमर्थ है। रणनीति के साथ व्यूह रचना भी बदलती है। संप्रदाय, जाति–उपजाति, स्वर्ण–अवर्ण क्षेत्रीयता, भाषा आदि के आधार पर गठबंधन होते हैं, टूटते हैं और नये सिरे से फिर जोड़ तोड़ की जाती है। मूल लड़ाई व्यस्त स्वार्थों और मानवीय अधिकारों की है, पर उसे न उचित दिशा मिली, न उपयुक्त संगठन। अराजक हिंसा इसी का परिणाम है।'[54]

इसलिए यह समझने की बहुत आवश्यकता है कि जिन विवादों को राजनीतिक मोड़ दिया जा रहा है, उनका आधार क्या है ? सांस्कृतिक स्वायत्तता और भिन्न भाषाई प्रांतों की मांगें अपनी जगह उचित थीं लेकिन इन मांगों को आधार बनाकर जो इनका राजनीतिक प्रयोग किया जाता है, क्या वे वास्तव में उन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हैं ?

---

53 श्यामाचरण दुबे : परम्परा इतिहास बोध और संस्कृति, पृ. 96.

54 वही, पृ. 96.

पॉल ब्रास मानते हैं कि 'हिन्दी' केन्द्र में कभी एक वर्चस्वशाली भाषा नहीं बन पाई। स्वाधीनता के बाद जब भी भाषा के आधार पर विखण्डन की समस्या या भिन्न प्रांत के निर्माण की समस्या आई तो यह सोचा जाने लगा कि भाषावार प्रांत निर्माण कहीं भविष्य में भारत की एकता के लिए खतरा तो नहीं बन जाएगा ?[55]

सांस्कृतिक एकता की बात अब राष्ट्र या किसी जाति को आधार बनाकर नहीं की जा सकती बल्कि विभिन्नताओं की पहचान को स्थापित करके ही संभव हो सकती है। अनेक सांस्कृतिक पहचानों के अस्तित्व को स्वीकार करके, उनके सहअस्तित्व, सम्मान और विकास के साथ ही सांस्कृतिक समन्वय की बात की जानी चाहिए। लेकिन इसके साथ उन खतरों को भी पहचानने की जरूरत है जो संस्कृति के राजनीतिकरण से जुड़ी है, जो उन्हें हिंसा और भेदभाव की ओर मोड़ कर व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया के मार्ग को अवरुद्ध करती है।

इन भाषाई विवादों को समाप्त करने का सरकार का जो रवैया रहा, उसमें केवल उन्हीं क्षेत्रीय मांगों पर ध्यान दिया गया जिनका संबंध केवल भाषा और सांस्कृतिक मसलों से संबंधित रहेगा। ऐसा संविधान और केन्द्रीय सरकार का दावा था भारत के राष्ट्र निर्माण के संदर्भ में। धर्म के आधार पर या अनुचित व स्वेच्छाचारी मांगों की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा जिससे कि भारत की एकता और अखण्डता को खतरा होगा। पर वर्तमान में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जब कुछ खास संवेदनशील क्षेत्रों में कभी भाषा के आधार पर कभी धर्म के आधार पर साम्प्रदायिकता, हिंसा, दंगे और आतंकवाद फैलाया गया। सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि विभाजन और हिंसा की यह राजनीति अपनी मांगों, अपनी शर्तों को मनवाने के लिए व्यापक जनाधार भी तैयार कर लेती है जो उन्हें अपना समर्थन प्रदान करता है।

---

55 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 16.

मुख्य रूप से तीन समस्याएँ हैं, जिन पर अब तक व्यापक रूप से सोचा नहीं गया। न ही इन पर व्यापक शोध या विश्लेषण किया गया, इसलिए ये विवादित बनी हुई हैं, जिनकी चर्चा पॉल ब्रास अपने शोध में करते हैं – 'पहली, भाषावार प्रांतों के निर्माण से भविष्य में भारत की अखण्डता को खतरा हो सकता है। स्पष्टतौर पर भाषिक और सांस्कृतिक सीमा रेखाओं के बनने से अनेक उपराष्ट्रीयताओं का विकास होगा जो अपनी स्वायत्तता की मांग करेंगी। दूसरा बड़ा सवाल सामुदायिक पहचान का है। उत्तर भारत के राज्यों में जो हिन्दी भाषी क्षेत्र हैं, अधिकतर विवाद और समस्याएँ यहीं उत्पन्न हुई हैं जो अहिन्दी भाषियों से जुड़ी हुई थीं। पूरा हिन्दी भाषी क्षेत्र अहिन्दी भाषियों द्वारा एक पिछड़े क्षेत्र के रूप में देखा जाता रहा है, जिसने अपने बड़े आकार और प्रभुत्व से अन्य क्षेत्रों पर वर्चस्व कायम किया हुआ है। पॉल ब्रास तीसरा सवाल यह उठाते हैं कि ऐसा क्यों कि उत्तर भारत में ही अधिकतर भाषाई और धार्मिक विवाद उत्पन्न हुए। हर क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आंदोलन के पीछे धर्म एक प्रबल शक्ति के रूप में काम करता रहा है। ये धार्मिक संघर्ष इतने कड़वे थे कि लम्बे समय तक लगातार बने रहे। इन धार्मिक विवादों के बावजूद 'भाषा' दो धार्मिक समुदायों के बीच कभी भी सम्पर्क स्थापित करने में आड़े नहीं आई। भाषा सम्पर्क के माध्यम के रूप में अपना काम आसानी से करती रही। लेकिन राजनीतिक भद्रवर्ग के द्वारा एक प्रतीकात्मक बाधा के रूप में बदल दी गई।'[56] ये कुछ अनिर्णीत मुद्दे हैं जिनका कभी विश्लेषण नहीं किया गया। यदि इनका व्यावहारिक विश्लेषण किया जाए तो देखा जा सकता है भारत के प्रत्येक प्रांत में अनेक भाषिक और धार्मिक अल्पसंख्यक मौजूद हैं। वहीं की संस्कृति में घुलमिल गए हैं। इसलिए केवल भाषा के आधार पर प्रांतों को विभक्त नहीं किया जा सकता। जातीयता के और भी तत्त्व हैं जो सामूहिक अस्मिता

---

56 पॉल आर. ब्रास : लैंग्वेज़ रिलिज़न एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इंडिया, पृ. 20–23.

के निर्माण को प्रभावित करते हैं। हाल में जिन प्रांतों का निर्माण किया गया – छत्तीसगढ़, झारखण्ड और उत्तरांचल। इनका आधार आदिवासियों और ट्राइब को स्वायत्तता प्रदान करना था।

इसलिए एक बार फिर इस पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि वे कौन से वास्तविक भेद हैं जो सांस्कृतिक विभाजन का आधार बनाए जा रहे हैं। सांस्कृतिक स्वायत्तता के नाम पर क्षेत्रवाद और स्थानीयता को तो बढ़ावा नहीं मिल रहा ? राजनीतिक संगठनों के द्वारा उठाई गई मांगों और सरकारी नीतियों के बीच जो फर्क है उसकी व्याख्या किस तरह की जाए ? इन विवादों के चलते केवल हिन्दी ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं को बौद्धिक अभिजन वर्ग विशेषाधिकार रखने वाले, प्रभुत्वशाली वर्ग की भाषा अंग्रेज़ी का सामना करना पड़ा। उसकी उपस्थिति को सांस्कृतिक एकता के लिए सहज मान लिया गया परंतु इससे न किसी भाषा या उसके साहित्य का विकास हुआ और न ही उन विवादों से उत्पन्न कड़वाहट कम हुई। बल्कि आस्थाएँ और संकीर्णताएँ और मज़बूत ही हुई हैं।

पंचम अध्याय : स्वाधीनता के बाद राष्ट्रवाद और उत्तर उपनिवेशवाद

(i) उपनिवेशवाद बाह्य और आंतरिक
(ii) राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद
(iii) उत्तर उपनिवेशवाद : संदर्भ –भाषा

अध्याय – 5

स्वाधीनता के बाद राष्ट्रवाद और उत्तर–उपनिवेशवाद

(i) उपनिवेशवाद बाह्य और आंतरिक

औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के बाद स्वाधीन राष्ट्रों ने अपनी राजनीतिक सत्ता तो कायम कर ली, पर फिर भी वे उनके प्रभावों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाए। औपनिवेशिक भाषा व संस्कृति का प्रभाव और वर्चस्व बना रहा। सामाजिक और आर्थिक पराधीनता थी और विकास का मॉडल पश्चिम का अनुकरण था। उत्तर उपनिवेशवाद का असर सबसे अधिक उन उपनिवेशों पर पड़ा जिन्हें आज तीसरी दुनिया या चौथी दुनिया कहते हैं अफ्रीका और एशिया के वे देश जो ब्रिटिश साम्राज्य के आधीन थे, जिन पर अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ी संस्कृति हावी रही। जहाँ की क्षेत्रीय व स्थानीय मातृभाषाएँ लगभग खत्म होने की कगार पर पहुँच गईं। शिक्षा का स्वरूप और चरित्र भी औपनिवेश ही बना रहा। राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भी वे राष्ट्र औपनिवेशिक दासता के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त महसूस नहीं करते।

मुख्यतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंत और विश्व के मानचित्र में आए बदलावों को उत्तर–औपनिवेशिक स्थिति के रूप में परिभाषित किया गया। इसके अतिरिक्त हाशिए पर बिखरी संस्कृतियों द्वारा अपने स्वायत्तता के लिए संघर्ष और मुख्य धारा में अपने प्रतिनिधित्व के लिए प्रयास को भी उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों के रूप में देखा गया। उपनिवेशवाद के इतिहास को मुख्य रूप से तीन चरण में बाँटा गया है – उपनिवेशवाद के पूर्व (Pre Colonialism), उपनिवेशवाद (Colonialism) और उत्तर उपनिवेशवाद (Post Colonialism) उपनिवेशवाद के बाद ऐसा माना गया कि व्यापक पैमाने पर लोगों का एक

स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरण हुआ है। इससे सांस्कृतिक सीमाओं और प्रजातियों से संबंधित धारणाएं धुँधली हुई हैं। उत्तर उपनिवेशवाद की कुछ अन्य व्याख्याएँ भी मिलती हैं जिनके अनुसार (उपनिवेश के बाद) विभिन्न कलाएँ, संचार माध्यम, रचनात्मक लेखन आदि जीवन को किस रूप में देख रहे हैं, वे विभिन्न प्रजातियों और संस्कृतियों व जातीयताओं वाले परिवेश में जीवन को किस रूप में अभिव्यक्त करते हैं ? उसके प्रति कैसा रवैया रखते हैं। उदाहरण के तौर पर न्गुगी वा थ्योंगो द्वारा किए गए अफ्रीका के प्रदेश केन्या की उत्तर–औपनिवेशिक स्थितियों के विश्लेषण को देखा जा सकता है – 'अगर आपको कोई संदेह हो तो आप केन्या का किसी भी दिन का कोई भी समाचार–पत्र उठाकर उसके मनोरंजन वाले पृष्ठ पर निगाह डालें, आप पाऐंगे कि आज़ादी के पूरे 17 वर्षों बाद भी केन्या के तथाकथित राष्ट्रीय थियेटर द्वारा क्या दिखाया जा रहा है और 1952 में इसकी स्थापना के समय से ही किस तरह इस पर विदेशी ग्रुपों का नियंत्रण है। आप देखेंगे कि विदेशियों के कृत्यों को महिमामंडित करने वाले विदेशी नाटकों की भरमार है।' ओकलोहोमा, दि बार्टर्ड ब्राइड दि किंग एण्ड आई, व्हाई नॉट स्टे फॉर ब्रेक फास्ट ? तथा ऐसे ही अनेक नाटक आपको देखने को मिल जाएँगे। इन नाटकों का केन्या की जनता के संघर्ष से क्या मतलब ? लेकिन मतलब है। क्योंकि नाटक केन्या की राष्ट्रीय संस्कृतियों का दमन करनेवाली साम्राज्यवादी संस्कृति के ही अंग हैं।'[1] इस प्रकार बाह्य उपनिवेशवाद, जिसे कि राजनीतिक सत्ता कहा जा सकता है, से मुक्त होने के बाद भी, आंतरिक औपनिवेशिक संरचना मौजूद रही।

उत्तर–उपनिवेशवाद की अवधारणा की व्याख्या करने वाले प्रमुख विचारकों में एडवर्ड साईद, होमी भाभा, गायत्री स्पीवॉक, दीपेश चक्रवर्ती, एज़ाज अहमद आदि नाम उललेखनीय हैं। इन विचारकों ने उत्तर उपनिवेशवाद को मुख्य रूप से उपनिवेशवाद के

---

1 न्गुगी वा थ्योंगो, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 86, 87.

बाद की स्थिति के रूप में देखा जिसमें विश्वस्तर पर राजनीतिक और आर्थिक असमानता थी और उपनिवेशवाद के प्रभावों की निरंतरता। डॉ. होमी भाभा के अनुसार 'उत्तर–उपनिवेशवाद शब्द के प्रयोग को उस सामाजिक आलोचना का हिस्सा मानते हैं, जो उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक अनुभव को अभिव्यक्त करती है। ये सामाजिक आलोचना साक्षी है उनके प्रति असमानता की। ये उपनिवेश तीसरी दुनिया के ढाँचे में पश्चिम द्वारा ढाले गए। इसमें पश्चिमी ज्ञान और सत्ता (शक्ति) (Knowledge and Power) की संरचना की समालोचना है। प्रमुख रूप से यूरोप के पुनर्जागरण काल के बाद की स्थितियों का विश्लेषण किया गया है।'[2] अमा अता आइडू इस अवधारणा को उन देशों के संदर्भ में उपयोगी मानती हैं जो कभी उपनिवेश रहे थे। वे कहती हैं अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड जैसे देशों के लिए इस अवधारणा की प्रासंगिकता हो सकती है परंतु एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए यह एक ऐसा कड़वा अनुभव है, एक ऐसी कड़वी कल्पित कहानी है जो उस समय के लोगों द्वारा भोगे गए भयानक अनुभव को अभिव्यक्त करती है।[3]

उत्तर उपनिवेशवाद को औपचारिक रूप से उपनिवेशवाद के बाद की स्थिति माना गया है जिसमें उन बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को सूचित किया गया है जो तीसरी दुनिया और पहली दुनिया के संबंधों का विश्लेषण करती हैं। ज्ञान के पूर्वनिर्मित ढाँचों को भिन्न दृष्टियों से देखने की कोशिश की गई है।

तीसरी दुनिया के अधिकतर देश पश्चिम के उपनिवेश थे जहाँ आधुनिकता और राष्ट्र–राज्य का विकास एक स्वभाविक प्रक्रिया मानी गयी। परंतु उत्तर–उपनिवेशवादी

---

2 Padmini Mongia (ed by) Contemporary Postcolonial theory (A Reader) (होमी भाभा) Introduction, p.1.

3 Padmini Mongia (ed by) Contemporary Postcolonial theory (A Reader) (अमा अता आइडू) Introduction, p.1.

विश्लेषण इसे तीसरी दुनिया के समाजों के विकास का अंतिम चरण नहीं मानता। उपनिवेशवाद का दावा था कि वह पिछड़ी सभ्यताओं को आधुनिक बनाने का काम कर रहा है, योरोपीय ज्ञानोदय के मूल तत्त्व – लोकतंत्र और स्वतंत्रता का प्रसार कर रहा है। परंतु उपनिवेश का विरोध करने वाले विचारकों ने इस धारणा का खण्डन करते हुए इस स्थिति की व्याख्या द्विआधारी भेद के (बाइनेरी डिसटिकंशन) रूप में की। इसमें एक शोषक है दूसरा शोषित, उपनिवेशक और उपनिवेशी केन्द्र और हाशिए की लड़ाई माना। 'आधुनिकता' उपनिवेशवाद का हिस्सा थी जिसका लक्ष्य पिछड़े समाजों को न तो आधुनिक राष्ट्र बनाना था न उनका विकास करना। उसका एकमात्र लक्ष्य एक ऐसे बुर्जुआ समाज का निर्माण करना था जो पूँजीवादी व्यवस्था के विकास में सहायक हो। इसी संदर्भ में सुधीश पचौरी 'आधुनिकता' को उपनिवेशवाद का आंतरिक तत्त्व मानते हुए बताते हैं – आधुनिकता की भौगोलिक अथवा राजनीतिक पहचान भी है। यह है आधुनिकीकरण और पश्चिमीकरण का एकमेक हो जाना। आधुनिकता एक भूमण्डलीय विचार बनी। वह पश्चिम के देशों के शक्ति परीक्षण और उपनिवेशवाद का वैचारिक औजार बनी। एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीकी देशों ने यह बहुत बाद में जाना कि ज्ञानोदय एक नई गुलामी है, उन विचारधाराओं की गुलामी जो कहीं बाहर बनी है। ये तमाम विचारधाराएँ एक दमनात्मक अस्त्र के रूप में प्रकट होती और जीवन को अनुकूलित करती हैं। नया विज्ञान, नई तकनीक, नई शिक्षा, नए विचार जितना देते हैं उससे अधिक नई समस्याएँ पैदा करते हैं। विकास करते हैं तो प्रदूषण होता है। शुरू तर्कवाद में परम्परा और मिथक या तो इतिहास (डाकूमेंटेशन) बन जाते हैं या त्याज्य हो जाते हैं, तर्कवाद, व्यवस्थान (रैशनालाइजेशन), उत्पादकता, निजता, स्पर्धा अंततः सबको पूँजी का दास बना डालते हैं।'[4]

---

4 सुधीश पचौरी – उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद, पृ. 17.

इस प्रकार स्वतंत्र हुए उपनिवेशों ने राजनीतिक राष्ट्र के रूप में तो स्वतंत्रता प्राप्त कर ली – परंतु आंतरिक मुक्ति के साधन के रूप में ये अभी भी अपने विकास के लिए स्वतंत्र नहीं बन पाए। 'आधुनिक समाज व्यवस्था में राष्ट्र राज्य जो समाज का अंतिम रूप है, जो केन्द्रीकृत अधिरचना है, वह एक सामूहिक और आधुनिक सभ्यता की अनिवार्य इच्छा है, वह एकाधिकारी है, वह प्रतिनिधि है, वह ईश्वर की जगह ले लेती है, वह तर्क की श्रेष्ठतम स्थिति है, वह इतिहास का अंतिम निचोड़ है, इसमें विश्वास की जगह प्रकृतिविज्ञान है, रहस्य खत्म हो चले हैं। प्रकृत्या सब बराबर हैं, सभी की मुक्ति है, सभी की स्वतंत्र इच्छा है, स्वतंत्र बाजार और विनिमय है, नागर सभ्यता है।'[5] यह अवधारणा तीसरी दुनिया का सच नहीं बन पाई, उनके पास मानों इसके अनुकरण के अलावा कोई विकल्प ही नहीं था। 'तीसरी दुनिया में ये विचार समाज सुधार के रूप में आए, अतिचार के रूप में आए। तब इनके औचित्य पर जो बहसें हुईं वे इनकी प्रतिक्रिया और दबाव में हुईं और इसीलिए वे दब गईं।'[6]

उपनिवेशवाद का लक्ष्य एशिया–अफ्रीका में पूँजीवाद का विकास करना था, न कि स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में उनका विकास करना। राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया एक परिणति थी और प्रतिक्रिया भीं इसलिए उपनिवेशवाद बाह्य और आंतरिक दोनों रूपों में मौजूद रहा। एडवर्ड साइद 'प्राच्यवाद' की अवधारणा के माध्यम से उत्तर–औपनिवेशिक स्थितियों का विश्लेषण करते हैं। उनका कहना है कि पूर्व और पश्चिम को अलगाने की और उनमें स्पष्ट अंतर देखने की कोशिश प्राच्यवाद के अध्ययन का विषय है। लेखकों का एक व्यापक समुदाय जिसमें कवि, उपन्यासकार, दार्शनिक, राजनीतिक शास्त्री, अर्थशास्त्री और साम्राज्यवादी प्रशासनिक आदि ने पूर्व और पश्चिम के बीच के इस अंतर को दर्शाया है।

---

5 सुधीश पचौरी – उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद, पृ. 16.

6 वही, पृ. 16.

... संक्षेप में उन्होंने प्राच्यवाद की अवधारणा को पूर्व के ऊपर पश्चिम के वर्चस्व और आधिपत्य के रूप में व्याख्यायित किया है। साथ ही पूर्व की पुनर्संरचना का काम भी किया गया।[7] इस वर्चस्व और नियंत्रण बनाए रखने की स्थिति बाहरी उपनिवेशवाद का रूप है। राजनीतिक–सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से पूर्व के पास अपनी स्वतंत्र सोच नहीं बची। यहाँ तक की 'पूर्व' के देशों की आंतरिक स्थितियों के विश्लेषण का नज़रिया भी पश्चिमी ही रहा। पश्चिम के माध्यम से पूर्व को पहचानने की कोशिश की गई। इस प्रकार उत्तर उपनिवेशवाद के सिद्धांत के रूप में एडवर्ड साईद की पुस्तक 'ओरियेन्टेलिज़्म' (1978) को महत्त्वपूर्ण 'टेक्स्ट' माना गया। साईद की प्राच्यवाद की अवधारणा के माध्यम से यूरोपियन संस्कृति द्वारा नियंत्रण व उपनिवेशों में उत्पादन की राजनीति को समझा जा सकता है। पूर्व पर राजनीतिक, सामाजिक, सैनिक, वैचारिक, वैज्ञानिक और काल्पनिक दबाव को जाना जा सकता है। प्राच्यवादी विमर्श के अंतर्गत इसे समझा जा सकता है कि कैसे यूरोपीय संस्कृति द्वारा प्रबोधनकाल या ज्ञानोदय काल के बाद पूर्व पर इस तरह का नियंत्रण व वर्चस्व बनाए रखना संभव हो पाया।[8]

होमी भाभा औपनिवेशिक विमर्श में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हैं – 'सेल्फ' और 'अदर' (Self and other) के विभाजन को अपने लेख 'द अदर कोश्चन'' (अन्य का सवाल) में वे लिखते हैं कि यह पूरा विमर्श अब तक 'निर्धारण या स्थायीकरण' (Fixity) की उस अवधारणा पर निर्भर रहा है जिसमें 'अन्य' की विचारधारात्मक पुनर्रचना की जाती है। यह निर्धारण सूचित करता है सांस्कृतिक/ऐतिहासिक/प्रजातीय भेदों को। औपनिवेशिक विमर्श में इनकी व्याख्या विरोधाभासपूर्ण रही है जोकि संकेत करती है उपनिवेशवादी

---

7 एडवर्ड साइद – फ्राम ऑरियेन्टेलिज़्म, (संकलन – Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia) पृ. 21,

8 वही, पृ. 22.

व्यवस्था या कुव्यवस्था की स्थिरता को और लगातार इस भयानक व्यवस्था के बने रहने का।[9] अभिप्राय यह है कि औपनिवेशिक विचारधारा के घेरे के भीतर ही अब तक सारे विमर्श होते रहे हैं, जिसमें 'अन्य' की व्याख्या को सांस्कृतिक ऐतिहासिक और प्रजातीयता के आधार पर सुनिश्चित कर लिया गया। जैसा कि वे उदाहरण देते हैं कि – 'एक नीग्रो हमेशा नीग्रो ही रहता है। औपनिवेशिक विमर्श में यह एक ऐसा नकारात्मक भेद है, जो उसकी प्रजाति की पहचान बना दिया गया है और इसे कभी मिटाया नहीं जा सकता।'[10] कहने का आशय है कि 'नीग्रो' कभी अपनी प्रजातीय अस्मिता से छुटकारा नहीं पा सकता बावजूद इसके विरोध के, क्योंकि विरोध करने से पूर्व ही यह निर्धारित हो गया है या यह मान लिया गया है कि वह नीग्रो है। जहाँ पहले से यह सुनिश्चित कर लिया गया है कि 'भेद' है और उस 'भेद' को मिटा कर बराबरी की लड़ाई लड़नी है। उत्तर औपनिवेशिक विमर्श 'भिन्नता' या 'भेदों' को स्वीकार करने, उनका सम्मान करने का तर्क प्रस्तुत करता है।

गायत्री चक्रवर्ती स्पीवाक भी उत्तर उपनिवेश में राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल का विश्लेषण करती हैं। अपने लेख 'पोस्टस्ट्रक्चरलिज्म, मारज़िनेलिटी, पोस्ट कलोनियल एण्ड वैल्यू' में वे 'अस्मिता की व्याख्या में मौजूद विरोधाभास के बारे में बताती हैं। अमेरिका में रहने वाला एशियाई अपनी अस्मिता को कैसे परिभाषित करेगा ? भौगोलिक रूप से वह अपनी पहचान बताने में समर्थ हो सकता है पर क्या सांस्कृतिक और भाषिक पहचान किस रूप में देगा ? इसी तरह 'तीसरी दुनिया' कहने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दुनिया के किस हिस्से की बात की जा रही है। पूर्व–औपनिवेशिक ताकत के रूप में ब्रिटेन को मुख्य

---

9 एडवर्ड साइद – फ्राम ऑरियेन्टेलिज़्म, (संकलन – Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia) पृ. 37.

10 वही, पृ. 45,

रूप से पहचाना जाता है और नव उपनिवेशवाद के दौर में नई ताकत अमेरिका की पहचान मानी जाती है।[11]

उत्तर–औपनिवेशिक अध्ययन में इतिहास को 'नीचे से देखने' की प्रक्रिया शुरू की गई। यह निचला हिस्सा दुनिया या समाज का वह पिछड़ा हिस्सा है जिसे अब तक इतिहास में जगह नहीं दी गई थी। इतिहास लिखने और परिस्थितियों को देखने का दृष्टिकोण अब तक वर्चस्वशाली समुदाय, समाज या सभ्यताओं के माध्यम से ही हुआ। इन्हें केन्द्र से हटकर हाशिए पर पड़े समाज के हिस्से के नज़रिए से देखने की कोशिश की गई। इसे 'सबाल्र्टन स्टडीज़' कहा गया। दीपेश चक्रवर्ती तीसरी दुनिया के समाजों में 'राष्ट्रीय अस्मिता के सवाल, उनके इतिहास और अतीत के सवालों का विश्लेषण 'सबाल्र्टन स्टडीज़' की योजना के अंतर्गत ही करते हैं। वे अपने लेख में इस सवाल को उठाते हैं कि अब तक योरोप के नज़रिए से ही इन समाज़ों के इतिहास का अध्ययन किया जाता रहा है, 'योरोपीय वर्चस्व की ऐतिहासिक ज्ञान प्रदान करने में मूक भूमिका रही है अर्थात् कहीं न कहीं उसके प्रभाव की छाया मौजूद रही है।'[12]

उत्तर उपनिवेशवाद वह स्थिति है जो अब भी आंतरिक उपनिवेशवाद के रूप में मौजूद है – भाषा, संस्कृति, अर्थव्यवस्था आदि के माध्यम से। उत्तर उपनिवेशवाद तीसरी दुनिया को केन्द्र में रख कर उसकी स्थितियों का विश्लेषण करना है। तीसरी दुनिया की वे संस्कृतियाँ और भाषाएँ जो अब तक हाशिए पर पड़ी थीं जिन्हें पिछड़ा समझ कर उन पर ध्यान नहीं दिया गया, – उनकी अस्मिता और पहचान के सवाल को उठाते हुए आधुनिकता और विकास की अवधारणा को बदलने के प्रयास किए गए हैं।

---

11 एडवर्ड साइद – (गायत्री स्पीवाक), (संकलन – Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia) पृ. 199,

12 एडवर्ड साइद – (दीपेश चक्रवर्ती), संकलन – Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia) पृ. 224,

(ii) राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक उपनिवेशवाद

उत्तर–उपनिवेशवादी आलोचना स्वतंत्र राष्ट्रों को औपनिवेशिक प्रभावों से पूरी तरह मुक्त नहीं मानती। वह विश्व को कई दुनियाओं में बँटा हुआ देखती है। वर्तमान परिस्थतियों को परस्पर विरोधी रूपों में एक साथ मौजूद देखती है जिसे वह 'बाइवेरी आपोज़िशन' की अवधारणा के माध्यम से व्याख्यायित करती है। विश्व का एक हिस्सा वर्चस्वशाली है, केन्द्र में है, विकसित, समृद्ध व उन्नत है जो विश्व के बाकी हिस्सों को प्रभावित करता है। वहीं दूसरा हिस्सा वो है जो आधीन है, हाशिए पर है, अविकसित, पिछड़ा और गरीब है। एक औपनिवेशिक ताकत था तो दूसरा उपनिवेश। राजनीतिक व सामाजिक रूप से मुक्त होने के बावजूद तीसरी दुनिया के देश पूरी तरह से स्वतंत्र राष्ट्र नहीं बन पाए। इसका प्रमुख कारण इन देशों की राष्ट्रीय संस्कृति का दमन था जो भाषा, साहित्य, शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से किया गया।

अफ्रीका के देशों में और भारत में विशेष रूप से यह स्थिति देखी जा सकती है। न्गुगी वा थ्योंगो अफ्रीका के संदर्भ में बताते हैं कि 'औपनिवेशिक शासन के दौरान और औपनिवेशिक शासन समाप्त होने के बाद की अवधि में केन्या की भाषाओं का दमन और विभिन्न राष्ट्रीयताओं की संस्कृतियों का दमन साथ–साथ चला। मिसाल के तौर पर सेंट्रल प्राविंस में नृत्य, गीत और कविता के सांस्कृतिक समारोह 'इतुइका' एवं वाद्य संगीत पर प्रतिबंध लगा दिया गया। दृष्टव्य है कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान जिन कविताओं और गीतों पर प्रतिबंध लगाया गया था उन सबकी रचना केन्याई भाषाओं में हुई थी।'[13] सास्कृतिक उपनिवेशवाद में उपनिवेशों की भाषाओं, कलाओं, साहित्य, संस्कृति का

---

13 न्गुगी वा थ्योंगो – भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 87, 88.

'अपहरण' किया जाता है, उनका दमन किया जाता हैं जिस पर औपनिवेशिक ताकत अपनी भाषा, कला, साहित्य व संस्कृति को आरोपित करती है, उसका वर्चस्व कायम करती है। अपने प्रभुत्त्व को बनाने के लिए, अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए साम्राज्यवादी ताकत सांस्कृतिक स्वाधीनता नहीं देती। स्वतंत्र लेखन व कलाओं की अभिव्यक्ति पर प्रतिबंध लगा दिए जाते हैं। उपनिवेशों से उनकी भाषा कला साहित्य व संस्कृति छीन कर उन्हें मानसिक रूप से भी गुलाम बनाया जाता है। सांस्कृतिक भिन्नता को समाप्त करने के लिए अपनी संस्कृति को आरोपित किया जाता है, थोपा जाता है।

उत्तर–औपनिवेशिक दौर में राजनीतिक उपनिवेश समाप्त कर दिए गए और सांस्कृतिक उपनिवेश बनाए गए। यह भूमण्डली वैश्वीकरण की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। यह नव उपनिवेशवाद का रूप है। उत्तर उपनिवेशवाद मुख्यतः ब्रिटिश साम्राज्य और अन्य औपनिवेशिक शक्तियों के प्रभावों और उनके उपनिवेशों की स्थितियों का विश्लेषण करता है। पर उत्तर उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का नए रूप में विकास भी दर्शाता है। नव–उपनिवेशवाद के केन्द्र में अमेरिका है और अन्य समृद्ध राष्ट्र हैं। इनका नियंत्रण पूरे विश्व की अर्थव्यवस्थाओं और राष्ट्रों की आंतरिक समस्याओं में हस्तक्षेप पर बना हुआ है। इसमें 'भाषा' और 'संस्कृति' माध्यम हैं। आपकी भाषाएँ वो नहीं कह रहीं जो उन्हें अभिव्यक्त करना चाहिए। 'भाषाएँ' और 'संस्कृतियों' को परतंत्र बना कर उनसे पूँजीवादी व्यवस्था, बाज़ार नए रूप में साम्राज्यवाद को मजबूत कर रहे हैं।

इस बात की पुष्टि एज़ाज अहमद भी करते हैं। भूमण्डलीकरण और संस्कृति के बीच परस्पर संबंधों के बारे में बताते हुए वे लिखते हैं कि 'भूमण्डलीकरण के संदर्भ में वास्तविक प्रश्न है कि किसकी संस्कृति ? राष्ट्र में किसकी संस्कृति को यह नष्ट कर रहा है और किस संस्कृति को वैचारिक रूप से समर्थन दे रहा है, भौतिक रूप से मज़बूत कर रहा है ? पूँजीनिवेश के माध्यम से, इलेक्ट्रोनिक साधनों, संचार माध्यमों, डिज़ीटल साधनों

का केन्द्र किसे बनाया जा रहा है ?' एज़ाज अहमद भूमण्डलीकरण को ऐसी विश्वव्यवस्था के रूप में परिभाषित करते हैं जिसकी कोशिश है राष्ट्र–राज्य की बंद अर्थव्यवस्थाओं के दरवाज़े विश्व पूँजीवाद के लिए पूरी तरह से खुल जाएँ। इसलिए राष्ट्र–राज्य तक नागरिकता को सीमित न रखकर, राष्ट्र–राज्यों की पुनर्व्यवस्था और विश्वनागरिकता की सम्मिलित योजना बनाने की कोशिशें की जा रही हैं। इसे वे साम्राज्यवाद के नए रूप में परिभाषित करते हैं। जिसमें पूँजीवाद का विश्वस्तर पर सार्वभौमिक रूप से स्वीकार और आधिपत्य हो गया है।[14]

इस प्रक्रिया में विश्वस्तर पर एक ऐसी वर्चस्वशाली 'संस्कृति' का गठन हो रहा है, जिसमें अनेक छोटी–छोटी संस्कृतियाँ अपनी स्वायत्त पहचान पाकर भी कभी 'केन्द्र' में न आ सकेंगी, हमेशा हाशिए पर ही बनी रहेंगी। अपने अन्य लेख में उत्तर–उपनिवेशवाद पर चर्चा करते हुए एज़ाज अहमद भारत जैसे राष्ट्र के निर्माण, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद आदि अवधारणाओं को औपनिवेशिक प्रभाव से मुक्त मानते हैं। वे वस्तुतः उत्तर उपनिवेशवाद के संदर्भ में राष्ट्र–राज्य की व्याख्या करने वाली प्रमुख आलोचक गायत्री स्पीवाक चक्रवर्ती की व्याख्याओं का खण्डन करते हैं।

गायत्री स्पीवाक अपनी पुस्तक में उत्तर उपनिवेशवाद की परिस्थितियों को साम्राज्यवाद की परम्परा का ही हिस्सा या परिणाम मानती हैं। खासकर तीसरी दुनिया के देशों में जो ब्रिटेन के उपनिवेश थे और अमेरिका व फ्राँस आदि देशों को छोड़ कर विश्व के बाकी हिस्से। इसके अलावा गायत्री स्पीवाक सभी राजनीतिक अवधारणाओं और प्रक्रियाओं – राष्ट्रवाद, संवैधानिकता, नागरिकता, लोकतंत्र, समाजवाद आदि को तीसरी दुनिया के देशों की मूल अवधारणाएँ व प्रक्रियाएँ न मानते हुए, साम्राज्यवाद की ही बपौती

---

14 एज़ाज अहमद – ऑन कम्यूनेलिज़्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 104, 105.

या पैतृक सम्पत्ति करार देती हैं। इस मत का एज़ाज अहमद तीव्रता से खण्डन करते हैं और भारत में 'राष्ट्रवाद' को राष्ट्रीय आंदोलन की प्रक्रिया के विकास के रूप में देखते हैं। इसी तरह 'भारतीय लोकतंत्र' के बारे में उनका मानना है कि इसका 'साम्राज्यवाद की परम्परा' से कुछ लेना–देना नहीं है। इसका विकास हमने अपने अनुसार ही किया इसलिए वे 'आधुनिक भारतीय 'राज्य' की सबसे बड़ी राजनीतिक उपलब्धि मानते हैं कि स्वतंत्रता के तुरंत बाद ही भारत 'धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणतंत्र' बन गया। यद्यपि वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि भारत के इस रूप को खण्डित करने के अनेक प्रयास किए गए परंतु फिर भी यह भारतीय राष्ट्र–राज्य का मौलिक रूप है, जिसमें अमेरिका और यूरोप का कोई प्रभाव नहीं है।[15] एज़ाज अहमद यह तर्क खण्डित करते हैं कि उपनिवेशों में राजनीतिक व्यवस्था और विचारधारा के नाम पर सभी कुछ साम्राज्यवाद की देन है या उसी के परिणामस्वरूप आया है।

'मूल का उद्‌भव' के प्रश्न को एज़ाज अहमद आवश्यक नहीं मानते। वे लिखते हैं कि 'इस प्रश्न को गायत्री स्पीवाक जैसे उत्तर उपनिवेशवाद की व्याख्या करने वाले आलोचक बहुत खतरनाक रास्ते की ओर बढ़ रहे हैं। जब स्पीवाक ये कहती हैं कि लोकतंत्र और समाजवाद के भारत में ऐतिहासिक संदर्भ नहीं मिलते हैं तब वे वही बात कह रही हैं जिसे भारत में दक्षिण पंथ की राजनीति करने वाले हमेशा कहते आए हैं। भारत में भी इस किस्म का राजनीतिक आंदोलन है जिसका मानना है कि भारतीय मुसलमान और ईसाई सच्चे हिंदुस्तानी नहीं हैं, क्योंकि वे उस धर्म को मानते हैं जिसका जन्म हिंदुस्तान में नहीं हुआ है। भारत के समाजवादी भी, मार्क्सवाद का जन्म यूरोप में होने के

---

15 कनटेम्पोरेरी पोस्ट कलोनियल थ्योरी : सं. पद्‌मिनी मोंगिया (लेख) एज़ाज अहमद : 'द पालिटिक्स ऑफ लिट्रेरी, पोस्ट कलोनियेलेटी, पृ. 276–278.

कारण सच्चे भारतीय नहीं हैं। भारत को धर्म निरपेक्ष राज्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि धर्म निरपेक्षता भी पश्चिमी विचारधारा है। ऐसा कहने वाले वे समाजविज्ञानी हैं, जिनका तर्क है कि संसदीय जनतंत्र भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है और भारत को स्वदेशी समाजविज्ञान और स्वदेशी राजनीतिक प्रणाली की खोज करनी चाहिए।'[16] इस प्रकार उपनिवेशों के भीतर की परिस्थितियों को साम्राज्यवाद क परिप्रेक्ष्य में देखना उचित न मानते हुए एज़ाज अहमद उत्तर औपनिवेशिक स्थिति को और भी व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करते हैं। 'वे साम्राज्यवाद के इतिहास में भूमण्डलीकरण को नयी अवस्था मानते हैं। भूमण्डलीकरण की व्याख्या वे विश्व स्तर पर पूँजी के निवेश और विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं को विश्वस्तर पर जोड़ने की प्रक्रिया के रूप में करते हैं। इस प्रक्रिया की यह अनिवार्य शर्त थी कि उपनिवेशों को स्वतंत्र किया जाय।'[17] इस प्रकार उत्तर–उपनिवेशवाद और नए किस्म के साम्राज्यवाद की व्याख्या वे विश्व पूँजीवाद के विकास के रूप में करते हैं। प्रथम विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र इसके केन्द्र में हैं जो सैन्य बल आदि द्वारा शक्तिशाली बन गए हैं और तीसरी दुनिया के देशों में 'राष्ट्र–राज्य' की संरचना का विघटन या विलय करने के प्रयास कर रहे हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य पूँजी–निवेश के क्षेत्र में इन राष्ट्रों को मज़बूत बनाना है परंतु श्रमिक वर्ग को कमज़ोर बनाए रखना है।[18]

इसी दृष्टि से डॉ. रामविलास शर्मा और न्गुगी वा थ्योंगो जैसे आलोचक विभिन्न राष्ट्रों में जिस दमनकारी संस्कृति की व्याख्या करते हैं उसका विकास पूँजीवाद पर टिके

---

16 कनटेम्पोरेरी पोस्ट कलोनियल थ्योरी : सं. पद्मिनी मोंगिया (लेख) एज़ाज अहमद : 'द पालिटिक्स ऑफ लिट्रेरी, पोस्ट कलोनियेलेटी, पृ. 276–278.

17 एज़ाज अहमद – ऑन कम्यूनेलिज़्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 96, 104,

18 वही, पृ. 105,

साम्राज्यवाद द्वारा हुआ है। स्वतंत्र हुए उपनिवेश 'राष्ट्रों के रूप में कठित होकर भी अपनी भाषा, संस्कृति और अस्मिता के लिए संघर्षरत रहे। आतंरिक समस्याओं में जातिवाद व धर्म जैसे तत्त्वों ने रुकावटें पैदा की है तो उससे कहीं ज्यादा राष्ट्रों के विकास के मॉडल को प्रभावित करने में बाह्य ताकतों का हाथ रहा है। जो विश्व स्तर पर संस्कृति की पुनर्संरचना कर रही हैं। विभिन्न संस्कृतियो को स्वायत्तता और स्वतंत्र अस्मिता के नाम पर निगलती जा रही हैं।

आज विश्व–व्यापी स्तर पर संस्कृतियों का पुनर्गठन किया जा रहा है। 'विश्वस्तर पर पूँजीवादी सभ्यता के उभरने से राष्ट्रीय, क्षेत्रीय और स्थानीय संस्कृतियों का पुनर्गठन किया जा रहा हैं जो कि उस सभ्यता के विभिन्न हिस्से कहलाते हैं। आंतरिक स्तर पर सभ्यता में सजातीयता व एकरूपता बनी रहती है, यह स्तर है 'वस्तुकरण' का। परंतु वास्तविकता इससे भिन्न होती है। जिसमें दृश्य रूप में उपभोग की वस्तुओं में भिन्नता दिखाई जाती है, सभी तरह की भिन्नताओं को बरकरार रखा जाता है, बढ़ावा दिया जाता है। यहाँ तक की उत्पादन की प्रक्रिया में भी इसका ध्यान रखा जाता है क्योंकि इसमें स्वतंत्रता का भ्रम बना रहता है। यही बाज़ारीकरण का सार है।'[19]

कहने का अभिप्राय है कि स्वतंत्र उपनिवेश राष्ट्रीय बाज़ारों में तबदील किए जा रहे हैं और उनमें जिस संस्कृति का वर्चस्व है, जो केन्द्र में है, उसका संबंध जाति, धर्म, राष्ट्रीयता से ऊपर पूँजीवादी सभ्यता से है। वह उस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही है जो दुनिया वर्गों में बाँट कर उन्हें मुक्त होने से वंचित रखे हुए है। विकास के मॉडल और तीसरी दुनिया में सांस्कृतिक उपनिवेशवाद पर चर्चा करते हुए श्यामाचरण दुबे लिखते हैं – 'तथ्य यह है कि पूरा मॉडल अंततः उपभोक्तावादी समाज का था और उपभोक्तावाद

---

19 एज़ाज अहमद – ऑन कम्यूनेलिज़्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 107,

ही उसका मुख्य दर्शन था। उच्च वर्ग को दोनों प्रकार के लाभ थे, एक ओर उन्होंने विकसित दुनिया की नयी आवश्यकताओं, उपभोक्तावादी संरचना और यंत्रवाद को अपनाया और दूसरी ओर तीसरी दुनिया की सामंती विलासिता और औपनिवेशिक दृष्टिकोण को क़ायम रखा ...।'[20] इस प्रकार राष्ट्रों की आंतरिक समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहीं, वे वास्तविकता में अपनी समस्याओं से उबर कर अपना विकास न कर सके।

वर्तमान में इस सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का संबंध विश्व स्तर पर आर्थिक संबंधों, उत्पादन, पूँजी के वितरण, निवेश, प्रौद्योगिकी और विकास आदि से है। इससे तीसरी दुनिया के कई विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाएँ पूरी तरह से खोखली हो गई हैं, विकसित राष्ट्रों के ऋण तले दबी, कभी भी अपने स्वतंत्र–विकसित भविष्य की कल्पना नहीं कर सकती। इसके बारे में लिखते हुए डॉ. श्यामाचरण दुबे स्पष्टतौर पर उन खतरों का उल्लेख करते हैं जो आज हमारे सामने मौजूद हैं – 'पश्चिमी मॉडल पर आधारित विकास की सामाजिक–सांस्कृतिक आवश्यकताओं और सामाजिक संरचना के परिवर्तनों ने उनकी सांस्कृतिक स्वायत्तता और पहचान के लिए संकट खड़ा कर दिया है। चाहे जो भी कारण हो, विकास के जैसे परिणामों का वायदा था, वे सामने नहीं आये। ... इस दौरान उद्योग के क्षेत्र में प्रगत पश्चिम में भी तनाव के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं; तीव्र गति से होने वाले औद्योगीकरण से उत्पन्न सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का मुक़ाबला करने में वह अपने आपको अक्षम पा रहा है ...।'[21] जब तक ये राष्ट्र अपनी क्षेत्रीय व स्थानीय संस्कृतियों, परम्पराओं को विकासशील नहीं बनाएँगे, तब तक पिछड़े रहेंगे और इसके लिए राष्ट्रों को परस्पर सहायता और एकदूसरे की स्वायत्तता का सम्मान करना चाहिए। लेकिन यहाँ एक बार फिर इस बात को दोहराना जरूरी है जिसके बारे में एज़ाज

---

20 श्यामाचरण दुबे : परम्परा और परिवर्तन, पृ. 15.

21 श्यामाचरण दुबे : परम्परा और परिवर्तन, पृ. 17.

अहमद कहते हैं कि भूमण्डलीकरण की इस प्रक्रिया का विरोध करते हुए जब 'राष्ट्रीय संस्कृति' की बात की जाती है तब उसका अभिप्राय 'मूल' की उस संकीर्ण राजनीति से नहीं होना चाहिए जो राष्ट्र की अन्य संस्कृतियों का बहिष्कार करके अपनी दावेदारी स्थापित करती है।

'किसी तरह के परम्परावादी या रूढ़ राष्ट्रवाद की पैरवी न करते हुए भी एज़ाज अहमद जब राष्ट्रीय संस्कृति के संरक्षण और विकास की बात करते हैं। उनका कहना है कि वे भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया द्वारा विकसित संस्कृति का विरोध एक हिन्दू या मुसलमान या फिर तीसरी दुनिया के वासी के रूप में नहीं करते। वे उस मूलभूत प्रश्न को उठाना चाहते हैं जो इस सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का कारण है। उनका विरोध भूमण्डलीकरण की संस्कृति से इसलिए है क्योंकि वह भारत की अपनी खास जीवन शैली को नष्ट करती है और दूसरी को थोपती है। यह संस्कृति प्रौद्योगिकी के उन्नत और विकसित साधनों की पहुँच एक छोटे से वर्ग तक सीमित रखती है और एक बड़े वर्ग को इससे वंचित व अभावग्रस्त रखती है। यह भारत की अपनी सांस्कृतिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप करती है ...।'[22] प्रतिक्रियावादी राष्ट्रवाद से अपने आप को पूरी तरह अलग करते हुए वे हाशिए पर पड़ी संस्कृतियों को आगे लाने की बात करते हैं। जिनका भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने शोषण व उत्पीड़न किया है। इनके लिए जरूरी है कि वे अपनी जरूरतों के अनुसार अपना सांस्कृतिक विकास करें। यहाँ वे 'राष्ट्रीय संस्कृति' की व्याख्या करना जरूरी समझते हैं। जो कि उनके अनुसार 'अभी तक हमने अर्जित नहीं की है, न ही वह हमें विरासत में मिली है। वह उस क्षितिज के समान है जिसे अभी मिलना है, वह तब तक हमसे दूर रहेगा जब कि कि हम अपनी आधारभूत लोकतांत्रिक मांगों को पूरा नहीं कर

---

22 एज़ाज अहमद – ऑन कम्यूनेलिज़्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 111,

लेते। सामाजिक परिवर्तन के लिए यह बहुत जरूरी है।'[23]

जातीय और क्षेत्रीय राष्ट्रीयताओं को समाप्त नहीं किया जा सकता। न ही ऐसी कोशिश बाजार करता है बल्कि वह सबकी भिन्नताओं पर उपभोक्ता की संस्कृति को थोपता है।

भारत के संदर्भ में सांस्कृतिक उपनिवेशवाद केवल 'पश्चिम' तक सीमित नहीं है। 'पश्चिम' का केवल यूरोप के देश या ब्रिटिश साम्राज्य नहीं है। अब इसका स्थान 'भिन्न दुनियाओं' ने ले लिया है। एक उन्नत दुनिया की संस्कृति है और उसके विपरीत पिछड़ी दुनिया। जो हमेशा से उन्नत दुनिया के पीछे चलती आई है। इस 'सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' से मुक्ति का मार्ग कौन–सा हो ? जहाँ हमारी अपनी संस्थाएँ हों, जो देश की सामाजिक–राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों के अनुरूप हों। वह कौन–सा वैकल्पिक मार्ग निर्मित किया जाए ? जिससे हमारी भाषा, साहित्य और दर्शन का विकास हो।

इसके लिए जरूरी है कि हम इन समस्याओं को व्यापक परिदृश्य में देखें और समस्याओं की सही व्याख्या करें। इसके अनेक सूत्र बिखरे पड़े हैं जिन्हें जोड़ कर ही इस व्यापक उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। 'उपभोक्ता की संस्कृति' में उन्नत और पिछड़े के बीच फर्क बनाए रखने के लिए भी उत्पादन किया जाता है। इस संस्कृति का संबंध स्थानीयता या क्षेत्रीयता, वहाँ की प्रकृति, भाषा आदि से है तो कहीं आगे उस समाज विशेष की अर्थव्यवस्था से जुड़ा है।

अनिया लुम्बा अपनी पुस्तक 'कलोनियलिज़्म/पोस्ट कलोनियलिज़्म (उपनिवेशवाद/उत्तर उपनिवेशवाद) में इसकी विस्तार से चर्चा करती हैं। वे 'उत्तर आधुनिकता' की एक निश्चित परिभाषा से इनकार करती हैं। यहाँ तक कि उपनिवेशवाद के और साम्राज्यवाद

---

23 एज़ाज अहमद – ऑन कम्यूनेलिज़्म एण्ड ग्लोबेलाइज़ेशन, पृ. 111,

के भी विश्व के विभिन्न भागों में अलग–अलग प्रभावों को उजागर करती हैं। एशिया और अफ्रीका के देशों के लिए उपनिवेशवाद का वही अर्थ नहीं है जो अमेरिका के लिए।[24] उत्तर उपनिवेशवाद स्वतंत्र उपनिवेशों की सांस्कृतिक सामाजिक स्थितियों से भी जुड़ा है। इसका संबंध 'पश्चिम' से भी है, यूरोप से भी कुछ के लिए यह केवल राजनीतिक सत्ता तक सीमित है। मुख्यतः वे इसे विभिन्न क्षेत्रीय संस्कृतियों, रंगभेद नीति, वर्ग भेद और लैंगिक भेद के अर्थ में विश्लेषित करती हैं।

एशिया और अफ्रीका की स्थितियाँ लगभग समान हैं। इसलिए उत्तर औपनिवेशिक स्थितियों में भी समानता है। दोनों ही ब्रिटिश व यूरोपीय साम्राज्यवाद के उपनिवेश थे। दोनों ही महाद्वीप अब नव–उपनिवेशवाद का सामना कर रहे हैं। इसलिए भारत की स्थितियों का विश्लेषण करते समय हमें संस्कृति, भाषा व राष्ट्रीय अस्मिता जैसे सवालों का जवाब न्गुगी वा थ्योंगो द्वारा किए अफ्रीकी समाज के विश्लेषण में मिलते हैं।

अनिया लुम्बा लिखती हैं कि यह जानना आवश्यक नहीं कि उत्तर उपनिवेशवाद की शुरूआत कब हुई, क्योंकि उपनिवेशवाद कई तरह का था, उसके अलग–अलग प्रभाव थे और विश्व के अलग–अलग भाग विभिन्न समयों पर इससे मुक्त हुए। हमारे लिए यह जानना ज़्यादा जरूरी है कि विभिन्न समाजों और संस्कृतियों पर इसके कौन से अलग अलग प्रभाव हैं। उपनिवेशवाद के अंत के साथ ही साम्राज्यवाद का अंत नहीं हुआ (जैसा कि अधिकतर उत्तर औपनिवेशिक आलोचक मानते हैं)। वह इसलिए क्योंकि राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेने के बावजूद आर्थिक और सामाजिक स्तर पर वे आत्मनिर्भर नहीं बन पाए, उनके श्रमिक और बाज़ार यूरोपीय उद्योगों और तकनीक से मुक्त नहीं हो पाए। इस स्थिति के लिए नव–साम्राज्यवाद या नव–उपनिवेशवाद शब्द का भी प्रयोग किया जाता

---

24 अनिया लुम्बा : कलोनियलिज़्म/पोस्ट कलोनियलिज़्म, पृ. 1–7.

है। ... एक देश एक समय में एक साथ उत्तर औपनिवेशिक (इस अर्थ में कि वह औपचारिक रूप से स्वाधीन हो गया है और अब उपनिवेश नहीं रहा) और नव–औपनिवेशिक (इस अर्थ में कि अब भी वह आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से निर्भर है) हो सकता है।[25]

इस प्रकार सांस्कृतिक उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद का नया रूप है, जो उत्तर औपनिवेशिक स्थिति है। भारत जैसे देशों के लिए और इसी पर उपनिवेशवाद का नया रूप टिका है। शोषण और उत्पीड़न को दूर करने के लिए इस नई स्थिति को समझना जरूरी हैं 'सांस्कृतिक उपनिवेशवाद' की मौजूदगी 'राष्ट्र' के भीतर औपनिवेशिक दौर में, और उससे मुक्त होकर, दोनों स्थितियों में हो सकती है। कुछ विद्धान इसे औपनिवेशिक काल के दुष्परिणामों के रूप में भी देखते हैं। जैसे न्गुगी वा थ्योंगो इस संदर्भ में लिखते हैं – उपनिवेशवाद ने महसूस किया कि जब तक सांस्कृतिक नियंत्रण भावी वैचारिक नियंत्रण न किया जाए आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण अधूरा रहता है। इसलिए वह एक ऐसी शिक्षा प्रणाली थोपता है जो सम्पत्ति के बारे में उपनिवेश की जनता को वास्तविक ज्ञान देने से इनकार तो करती ही है, साथ ही जनता के अंदर गुलाम चेतना पैदा करने वाली संस्कृति का भी प्रसार करती है। इसीलिए उपनिवेशों की जनता को यह पढ़ाया जाता है कि उनका कोई इतिहास नहीं है।'[26]

एडवर्ड साईद भी इस नए किस्म के साम्राज्यवाद को सांस्कृतिक पराधीनता के रूप में देखते हैं। ... साम्राज्यवाद से मुक्ति की लड़ाई ने हमें अपनी संस्कृति से प्रेम करना और दूसरी संस्कृतियों से घृणा करना सिखाया है। यह नए तरह का कबीलाईपन हमारे समाजों को खण्डित कर रहा है, लोगों को एक दूसरे से अलग करके अलगाव पैदा कर

---

25 अनिया लुम्बा : कलोनियलिज़्म/पोस्ट कलोनियलिज़्म, पृ. 7, 13, 14.

26 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 111.

रहा है, लोग, रक्तपात से भरे संघर्ष व युद्ध और अल्प संख्यक जातीय समुदायों को अनावश्यक रूप से अपनी स्वायत्त लड़ाई लड़ने के लिए उकसा रहा है।[27]

होड़ और हिंसा की संस्कृति, लाभ और लोभ की संस्कृति, प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता की संस्कृति में विश्व में बर्बरता के नए रूप को पैदा किया है। इन संकीर्णताओं से ऊपर उठकर अभाव, गरीबी, भुखमरी की संस्कृति के रूप में इसे देखना जरूरी है तभी संस्कृति में मानवीय मूल्यों को पुनर्स्थापित किया जा सकेगा।

27 मार्डन लिट्रेरी थियोरी : संपादित फिलिप राइज़ और पेट्रशिया वाम, पृ. 370. (लेख : एडवर्ड साईद : ऑन कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज़्म)

(iii) उत्तर उपनिवेशवाद – संदर्भ भाषा

उपनिवेशवाद का संबंध भाषा, साहित्य और संस्कृति की पराधीनता से भी था। हमारी भाषा, साहित्य और संस्कृति की जो पहचान बनाई गई और बताई गई, वह उपनिवेशवाद का सत्य था पर हमारा ऐतिहासिक सत्य नहीं। उपनिवेशवाद ने सभी मौजूद ज्ञान स्रोतों की अपने अनुसार व्याख्या की। इसमें 'भाषा' की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण थी। अगर उत्तर उपनिवेशवाद को औपनिवेशिक प्रभावों की परम्परा के रूप देखा जा रहा है तो इसका प्रत्यक्ष रूप 'भाषा' के रूप और प्रयोग से पता चलता है। जैसा कि अधिकतर विद्वानों ने उत्तर औपनिवेशिक अध्ययन को साहित्य और संस्कृति की आलोचना पर निर्भर माना है, इसमें 'भाषा' की वर्तमान स्थिति के बारे में पुनर्विचार किया जा सकता है। क्या वास्तव में भारतीय भाषाओं और खासकर हिन्दी की दुर्दशा का कारण औपनिवेशिक भाषा 'अंग्रेज़ी' ही है ? क्या अंग्रेज़ी इसीलिए अन्य भाषाओं पर अपना दबदबा बनाए हुए है क्योंकि यह अंग्रेज़ी साम्राज्य की निशानी है। स्वतंत्र भारत के पास पूरी स्वाधीनता थी कि वह अपनी राजभाषाओं और राष्ट्रभाषाओं को अंग्रेज़ी के प्रभाव से मुक्त रखते हुए स्वायत्तता प्रदान करे, उनके प्रयोग को संवैधानिक रूप प्रदान करे।

इसे व्यापक संदर्भ में समझने की जरूरत है। यह एक नए साम्राज्यवाद की शुरूआत थी जिसने पिछड़े देशों को राजनीतिक स्वाधीनता तो दी, पर पिछड़ेपन से मुक्त होने में कोई मदद नहीं की। अभिजात्य वर्ग और सत्ता वर्ग की हमेशा अलग भाषा रही है, जिसने ज्ञान और संस्कृति को अपने अनुसार परिभाषित और नियंत्रित किया है। विश्वस्तर पर प्रभुत्वशाली वर्ग की 'भाषा' ही स्थापित हो सकती है। हमारे देश की अपनी आंतरिक समस्याएँ और विवाद भी थे। 'भाषा' को आधार बनाकर ऐतिहासिक, सामाजिक, वैचारिक, सांस्कृतिक सभी तरह के संघर्ष सामने आए। ये समस्याएँ भले औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की देन नहीं थी पर जन्मी उसी की आधारभूमि पर थी।

उत्तर औपनिवेशिक विमर्श यूरोपीय ज्ञान और सत्ता–व्यवस्था से प्रभावित रहा है फिर भी इस विमर्श के अंतर्गत उत्पीड़ित और शोषित समाजों व जातियों की स्थितियों का विश्लेषण किया जाता है। उन पर पहले ध्यान दिया गया और उनके नज़रिए से परिस्थितियों की नई व्याख्या करने के प्रयास किए गए। अनिया लुम्बा उत्तर औपनिवेशिक विमर्श के अध्ययन में फूको की अवधारणाओं के विमर्श का काफी योगदान मानती हैं। जबकि वे यह भी कहती हैं कि 'फूको की अवधारणाएँ और सिद्धांत (यूरोप) यूरो केन्द्रित ही हैं और उपनिवेशवाद के संदर्भ में ज्ञान और सत्ता की व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं देती।'[28]

ज्ञान और सत्ता की व्यवस्था का सीधा संबंध भाषा से भी है। भाषा ही वह माध्यम है जो इन्हें स्थापित करती है। इसलिए अनिया लुम्बा औपनिवेशिक विमर्श को एक नई सोच की प्रक्रिया मानती हैं। जिसमें बौद्धिक, वैचारिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी प्रक्रियाओं को एक साथ उपनिवेशवाद को खत्म करने में सक्रिय देखा जा सकता है। ... वे इसे औपनिवेशिक हिंसा मानतीं हैं जब उपनिवेशों की जनता की भाषा, संस्कृति, विचार और मूल्य व्यवस्था पर आक्रमण किया जाता है।'[29] इसलिए औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा और खासकर अंग्रेज़ी साहित्य का शैक्षिक संस्थाओं में स्थान पाना औपनिवेशिक राजनीति का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा मानती हैं।[30]

उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों का अध्ययन करते हुए आलोचकों ने पाया कि राष्ट्र और भाषा के बीच का संबंध किसी तरह के राष्ट्र–प्रेम या राष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान से भी मुक्त हो गया है। उत्तर औपनिवेशिक लेखकों के साहित्य और आलोचना

---

28 अनिया लुम्बा : कलोनियलिज़्म/पोस्ट कलोनियलिज़्म, पृ. 52.
29 वही, पृ. 54.
30 वही, पृ. 54.

की भाषा का संबंध न उनके देश से है न धर्म सें (जैसा कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारत में किया गया और स्वाधीनता के बाद भी राष्ट्र धर्म और भाषा के परस्पर संबंधों को आधार बनाकर राजनीति की गई।) एज़ाज अहमद उत्तर औपनिवेशिक साहित्य को आधार बनाकर की जाने वाली राजनीति का विश्लेषण अपने लेख में करते हैं। इस संदर्भ में साहित्य की 'भाषा' की राष्ट्रीय पहचान या लेखक की धार्मिकता और राष्ट्रीयता जैसे मुद्दों पर की जाने वाली संकीर्ण राजनीतिक विचारधारा का विरोध करते हैं। वे इस संदर्भ में सलमान रूश्दी का उदाहरण देते हैं। सलमान रूश्दी रचित पुस्तक 'सैटेनिक वर्सिस' (Satanuc Verses) पर प्रतिबंध, सबसे पहले भारत सरकार ने लगाया था न कि किसी (मुस्लिम) इस्लामी राष्ट्र ने, जिनकी तुलना में भारत नाममात्र भी इस्लामी नहीं है। वे अपने मित्र की किताब (Colonial Discourse and Post Colonial theory :a Reader: ed patrick williams and laura chrisman , London : Harvester Wheat sheat 1933) में संकलित लेख – वाट इज़ पोस्ट (–) कलोनियलिज़्म ? के एक अनुच्छेद को उद्धृत करते हैं जिसमें लिखा था कि – 'इस्लाम की उत्तर औपनिवेशिक दुनिया में नीतिपरक मूल्य बिल्कुल स्पष्ट और साफ है कि औपनिवेशिक भाषा में लिखना मृत्यु–समान है और जो भी उत्तर औपनिवेशिक लेखक साम्राज्यवादी भाषा में लिखता है वह देशद्रोही है। वह साम्राज्यवाद को पुनःस्थापित कर रहा है। ... इस आधार पर सलमान रश्दी का दण्डित किया गया।'[31] इस उद्धरण के माध्यम से जाना जा सकता है कि भाषा को धर्म और राष्ट्रीयता अस्मिता का प्रतीक बनाकर राजनीतिक प्रयोग किया जा रहा है। जबकि सच्चाई यह है कि ईरान कभी 'ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश रहा ही नहीं।'[32] एज़ाज अहमद कुछ अन्य तथ्य भी

---

31 एज़ाज अहमद : लेख – द पालिटिक्स ऑफ लिट्रेरी पोस्ट कलोनियेलिटी, पृ. 276, पुस्तक : Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia (A Reader)

32 वही, पृ. 277,

प्रस्तुत करते हैं – 'ईरान, पाकिस्तान, मलेशिया और अरब के देशों में आदि सभी इस्लाम धर्म को मानने वाले राष्ट्रों में भी लोक अंग्रेज़ी का प्रयोग करते हैं और रोज़मर्रा के कामों में अंग्रेज़ी ही बोलते व लिखते हैं। इसके लिए न किसी की हत्या की जाती है और न ही दण्डित किया जाता है।'[33] इतना ही नहीं वे भारत के संदर्भ में इसी को सच मानते हैं। वास्तविकता यह है कि अंग्रेज़ी ही भारत की राजभाषा बनी बैठी है और 40 प्रतिशत के लगभग प्रकाशन अंग्रेज़ी भाषा में किया जाता है। अमेरिका और ब्रिटेन को छोड़कर भारत ही अकेला ऐसा देश है जहाँ सबसे अधिक अंग्रेज़ी में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं।'[34]

निःसंदेह एज़ाज अहमद द्वारा प्रस्तुत यह तथ्य सही है। यह भी सच है कि भारत में भाषिक भिन्नता का लाभ उठाकर संकीर्ण राजनीतिक लाभ प्राप्त करने के उदाहरण देखे जा सकते हैं। इन्हीं के झगड़े निपटाने के लिए अंग्रेज़ी नहीं जमी हुई और न ही इसका सारा जिम्मा 'उपनिवेशवादी परिस्थितियों' को माना जा सकता है।

इसके पीछे उन वर्गीय आधारों को जिम्मेवार माना जाना चाहिए जो स्वाधीनता से पहले भी मौजूद थे और बाद में भी जब उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में संभाली। 'आर्थिक ढांचा एक वर्गीय ढाँचा भी है, जिसमें कुछ लोगों का उत्पादन/साधनों और इस प्रकार उत्पादन शक्तियों (श्रम–शक्ति, श्रम के उपकरण, कच्चा माल और प्राकृतिक संसाधन) पर स्वामित्व है। जबकि अन्य लोगों का इन साधनों पर स्वामित्व नहीं है।'[35] इस प्रक्रिया को उपनिवेशवाद प्रक्रिया का हिस्सा मानते हुए न्गुगी वा थ्योंगो लिखते हैं – '... उपनिवेशवाद ने महसूस किया कि जब तक सांस्कृतिक नियंत्रण यानी वैचारिक

---

33 एज़ाज अहमद : लेख – द पालिटिक्स ऑफ लिट्रेरी पोस्ट कलोनियेलिटी, पृ. 277, पुस्तक : Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia (A Reader)

34 वही, पृ. 277,

35 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 11.

नियंत्रण न किया जाए आर्थिक और राजनीतिक नियंत्रण अधूरा रहता है। इसलिए वह एक ऐसी शिक्षा–प्रणाली थोपता है जो सम्पत्ति के बारे में उपनिवेश की जनता को वास्तविक ज्ञान देने से इनकार तो करती ही है, साथ ही जनता के अंदर गुलाम चेतना पैदा करने वाली संस्कृति का भी प्रसार करती है। ... औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली इस बात से इनकार करती है कि उपनिवेशों में रहनेवाले लोगों के पास सही अर्थों में मानवीय भाषाएं थीं।' 'मालिकों की भाषाओं में न्गुगी अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली या इतालवी को गिनाते हैं।[36]

उनका मानना है कि शिक्षा प्रणाली बदल जाने से औपनिवेशिक भाषाएँ स्थापित हो जाती हैं और औपचारिक रूप से राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बावजूद वैचारिक गुलामी बनी रहती है। वे इसे नव औपनिवेशिक अवस्था के रूप में देखते हैं जिसमें 'साम्राज्यवादी–संस्कृति को औपनिवेशिक शिक्षा के माध्यम से आत्मसात कर लिया जाता है।' वे इस तरह की शिक्षा–प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य 'देशज आभिजात्य वर्ग तैयार करना मानते हैं।'[37] भाषा और संस्कृति को किसी भी राष्ट्र के दो बुनियादी अवयव मानते हुए वे केन्या का उदाहरण देते हैं। केन्या की राष्ट्रीय अस्मिता को स्थापित करने के लिए वे सबसे जरूरी बात मानते हैं, वहाँ के 'साहित्य में अनिवार्य रूप से एक ऐसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए जनता की बुनियादी आकांक्षाएँ अभिव्यक्त होनी चाहिए ...।'[38] साहित्य जो वहाँ की राष्ट्रीय बोलियों में लिखा गया हो, जिसमें वहाँ की संस्कृति की सच्ची तस्वीर उभर कर आए।

उत्तर औपनिवेशिक आलोचना के साथ–साथ उत्तर औपनिवेशिक रचनात्मक लेखन जैसे नाटक, कविता, कहानी आदि साहित्यिक लेखन का भी अलग वर्ग है। जिसके

---

36 न्गुगी वा थ्योंगो : भाषा संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, पृ. 112.
37 वही, पृ. 114.
38 वही, पृ. 132.

बारे में एज़ाज अहमद अलग मत रखते हैं। 'वह सब कुछ जो योरोप की संस्कृति नहीं है, योरोप से भिन्न है उसका अध्ययन नए साहित्य के रूप में किया जा रहा है। चाहे वे ब्रिटेन और अमेरिका में ही रह रहे अल्पसंख्यक हैं, जो गोरे नहीं हैं।'[39] रंग–भेद के कारण एक ही राष्ट्र का हिस्सा होते हुए भी, एक ही भाषा बोलने के बावजूद दमन और शोषण का शिकार यह वर्ग अपना साहित्य रच रहा है। इसी तरह एशिया और अफ्रीका के साहित्य का अध्ययन किया जा रहा है। उत्तर औपनिवेशिक आलोचना इनकी भाषाओं और संस्कृति को नए सिरे से पहचानने की दृष्टि विकसित कर रही है। एज़ाज अहमद को आपत्ति इस बात से है कि 'उत्तर औपनिवेशिक साहित्य के रूप में जिसे बहु सांस्कृतिक, अल्पसंख्यक साहित्य या तीसरी दुनिया का साहित्य आदि अनेक वर्गों का निर्माण किया जा रहा है यह सब भी योरोप के भीतर ही हो रहा है। ब्रिटेन के विश्वविद्यालय जिसे नए साहित्य के रूप में अध्ययन की वस्तु मान रहे हैं और योरोप व 'अन्य' की जो अवधारणा विकसित कर रहे हैं, यह योरोप के बाहर का साहित्य होकर भी उसके भीतर ही आलोचना और विश्लेषण की वस्तु बना हुआ है।'[40]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उत्तर औपनिवेशिक विमर्श को कई वर्गों में बँटा देखा जा सकता है। यह जरूरी नहीं सभी उत्तर औपनिवेशिक विमर्श का हिस्सा हों। एक ही राष्ट्र के नागरिक भिन्न संस्कृतियों, विचारधाराओं के वाहक तो सकते हैं। राष्ट्र और भाषा ही केवल अस्मिता का निर्माण नहीं कर सकते। भिन्न जटिल परिस्थितियाँ – धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक परिवेश आदि, वर्गीय स्थिति जैसे तत्त्व भी महत्वपूर्ण हैं। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि क्यों अचानक दुनिया के कुछ खास

---

39 एज़ाज अहमद : लेख – द पालिटिक्स ऑफ लिट्रेरी पोस्ट कलोनियेलिटी, पृ. 282, पुस्तक : Contemporary Postcolonial theory ed by Padmini Mongia (A Reader).

40 वही पृ. 282.

हिस्सों को, कुछ खास संस्कृतियों को ही चुन कर उनका अध्ययन किया जा रहा है ? उनकी भाषाओं के साहित्य का अनुवाद किया जा रहा है, कुछ खास पुस्तक ही प्रकाशित की जा रही हैं, कुछ लेखकों को विशेष रूप से स्थापित किया जा रहा है, पुरस्कृत किया जा रहा है। यहाँ उत्तर औपनिवेशिक आलोचना कुछ अन्य आलोचना पद्धतियों से जुड़ जाती है, वे हैं – उत्तर संरचनावाद और विखण्डनवाद। इन आलोचना पद्धतियों ने अपना विकास मुख्य रूप से संस्कृति, भाषा, साहित्य और इतिहास को आधार बना कर किया है। नई आलोचना पद्धतियों में से एक पद्धति इतिहास को नीचे से देखने और मौजूदा इतिहास की पुनर्संरचना की बात करती है। उत्तर औपनिवेशिक आलोचना नए वर्गों की संरचना की बात करती है जो अपनी अपनी भाषा और सांस्कृतिक अस्मिता के लिए संघर्ष करते हैं और मुख्यधारा में अपने हितों की मांग करते हैं, अपनी जगह बनाने की कोशिश करते हैं। ये नए वर्ग हैं, दलित, स्त्रियाँ, आदिवासी, ग्रामीण बनाम शहरी, परम्परावादी बनाम आधुनिक आदि।

.....

उपसंहार

राष्ट्र की अवधारणा और हिन्दी भाषा

'राष्ट्र' उसे कहा गया जब 'किसी सामाजिक समुदाय में सांस्कृतिक–समरूपता पाई जाए और उसके सभी सदस्यों में मानसिक स्तर पर भावनात्मक जुड़ाव हो। उनमें दृढ़ एकता का भाव हो।' निश्चित रूप से 'राष्ट्र' की यह परिकल्पना तभी संभव है जब उस सांस्कृतिक समुदाय की एक भाषा हो। 'सांस्कृतिक समरूपता' की संकीर्ण परिभाषा – एक भाषा, एक संस्कृति, धर्म, प्रजाति, भौगोलिक खण्ड/प्रदेश आदि योरोप की देन थी। उसी नज़रिए से भारतीय 'राष्ट्र' की परिकल्पना करना गलत होगा। भारत जैसे कितने ही एशिया–अफ्रीका के उपनिवेश हैं जो इस तकलीफ से गुज़र रहे हैं कि किसी भी तरह उन्हें योरोप की राष्ट्र की अवधारणा के आधार पर 'राष्ट्र' बनने के लिए मज़बूर किया गया। इसके जो दुष्परिणाम सामने आए उससे साम्प्रदायिकता व अलगाववाद जैसी समस्याएँ सामने आईं। जिनसे मिथ्या किस्म के राष्ट्रवाद का विकास हुआ।

इस मिथ्या किस्म के राष्ट्रवाद के कारण स्वाभाविक रूप से मौजूद सांस्कृतिक एकता खण्डित हुई। सत्ता के समीकरणों के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विभाजन और अलगाव पैदा हुआ। 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' की परिकल्पना जिसका जन्म 'हिन्दी–नागरी' आंदोलन के दौरान हुआ, इस धारणा को आज किस तरह से व्याख्यायित किया जाए। यह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। इसे निःसंदेह नवजागरणकाल के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। 'हिन्दी–नागरी' का आंदोलन 'हिन्दी' भाषा और साहित्य का जागरण काल बन गया। इसे यह रूप देने में उस युग के लेखकों व साहित्यकारों की जितनी बड़ी भूमिका

है, उससे कहीं ज्यादा औपनिवेशिक सत्ता के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य की वे नीतियाँ थीं जिनके परिणामस्वरूप 'खड़ीबोली हिन्दी' का विभाजन दो धार्मिक समुदायों के आधार पर किया गया। हिन्दुओं की भाषा हिन्दी और मुसलमानों की भाषा उर्दू बताई गई। आधुनिक भारत के इतिहासकार इस तरह के राष्ट्रवाद को 'पीछे के दरवाजे से घुसने वाला राष्ट्रवाद' (back door nationalism) की संज्ञा देते हैं। वे इसे पूर्णतः झूठा राष्ट्रवाद मानते हैं जो धर्म और भाषा आदि के आधार पर साम्प्रदायिकता का प्रसार करता है। मिथ्या किस्म का राष्ट्रवाद इसलिए कहा गया क्योंकि इसका आधार साम्प्रदायिक चेतना है, जिसने 'राष्ट्रीयता का आभास तो दिया पर साम्राज्यवाद का विरोध किए बिना। विदेशी ताकत जो भारत की जनता पर शासन कर, उसका शोषण कर रही थी, उसका विरोध किए बिना धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता के निर्माण का भ्रम पैदा किया गया।[1]

बिपिन चंद्र अपनी पुस्तक समकालीन भारत में लिखते हैं कि 'राष्ट्रवाद की निरंतर पुनर्परिभाषा होनी चाहिए थी। जहाँ पुराना राष्ट्रवाद समाप्त हुआ वहीं से नए राष्ट्रवाद की शुरूआत होनी थी।'[2] राष्ट्रवाद को पुनः परिभाषित करना उसके इतिहास की नए सिरे से जाँच–पड़ताल करना है। इतिहास को जस का तस अपना लेना किसी भी देश के भविष्य को खतरे में डालना होगा। जैसा कि 'आगे वे लिखते भी हैं कि भारत के लिए 'राष्ट्र' होना एक घटना नहीं, एक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी।'[3] इसका अभिप्राय यही है कि भारत के लिए यह एक लम्बे संघर्ष का परिणाम था, जिसे राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास कहा गया। इस संघर्ष में कई उतार–चढ़ाव आए, कई आंदोलनों की सामूहिक भूमिका के परिणामस्वरूप ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत एक शक्ति के रूप में संगठित हो सका।

प्रश्न राष्ट्रवाद के मॉडल के चुनाव का रहा है। लोकतांत्रिक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के मॉडल में माना गया कि सभी संस्कृतियों और धार्मिक समुदायों के हित सुरक्षित रह सकते हैं। राष्ट्रवाद राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान धार्मिक सुधार आंदोलन की आरंभिक

भूमिका काफी क्रांतिकारी थी। लेकिन आर्य समाज जैसे हिन्दू सुधारवादी आंदोलन, जिन्हें डॉ. वीरभारत तलवार 'जमायते इस्लाम' जैसे आंदोलनों की तुलना में प्रगतिशील मानते हैं – वह भी अंततः धार्मिक व साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद को ही विकसित करता है। 'सत्यार्थ प्रकाश की विचारधारा के मुताबिक एक राष्ट्र होने के लिए एक ही धर्म का होना अनिवार्य है। यह विचार धार्मिक राष्ट्रवाद का बीज है। इसके साथ एक ही भाषा का होना भी अनिवार्य ठहराया गया। यह दयानंद की बुनियादी विचारधारा थी। सत्यार्थ प्रकाश में प्राचीन खुशहाल भारत में सिर्फ एक ही धर्म के होने की बात कई जगह दोहराई गई है। ... वास्तव में ऐसी एकरूपता कभी होती नहीं। यह किसी राष्ट्र के होने की ज़रूरी शर्त भी नहीं है जैसा कि पाकिस्तान से बंगलादेश के अलग होने या परस्पर लड़नेवाले विभिन्न मुस्लिम राष्ट्रों, विभिन्न ईसाई और बौद्ध राष्ट्रों के अस्तित्व से साबित होती है। एक धर्म होने के बावजूद समाज विभिन्न वर्गों में बँटा होता है।[4]

क्या हिंदी भाषा के पास कोई राष्ट्र की अवधारणा है ? इसकी चिंता डॉ. रामविलास शर्मा करते हैं। वे हिन्दी के जातीय प्रदेश के गठन की आवश्यकता मानते हैं। हिन्दी भाषी बेल्ट (क्षेत्र) बहुत बड़ी है। उसकी कई जुबानें हैं, बोलियाँ हैं पर ऐसा कोई सुनिश्चित क्षेत्र नहीं जिसे हिन्दी का क्षेत्र कहा जाए। ऐसा क्यों ? इसका जवाब हिन्दी भाषा के भाषा वैज्ञानिक विकास से जाना जा सकता है कि कैसे बाज़ार के विकास के साथ लिग्वां–फ्रांका के रूप में हिन्दी का विकास हुआ। आर्यसमाजी दयानंद और वीर सावरकर जैसे हिन्दू राष्ट्रवाद की पैरवी करने वालों में कोई अंतर नहीं। दोनों ही आर्यों को इस देश का मूल निवासी मानते हैं। वीर सावरकर के लिए – 'हिन्दुस्तान' अर्थात् हिन्दुओं का स्थान – 'वैदिक राष्ट्र' है और संस्कृत को वे देश की वास्तविक भाषा मानते हैं।[5] संस्कृत की जगह हिन्दी को वर्तमान में 'आर्यभाषा' के रूप में स्थापित करने के प्रयास किए गए क्योंकि उसे हिन्दुओं की भाषा के रूप में स्थापित करना था। इसलिए उसमें से उर्दू–फारसी के

शब्द चुन–चुनकर निकाले गए। उसकी जगह संस्कृत के शब्द भरे गए। हिन्दी का रूप–आकार, ढाँचा व शब्द भण्डार सबकुछ संस्कृत से जोड़ने के प्रयास किए गए जबकि सच्चाई कुछ और ही थी। डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी ही नहीं सभी भारतीय भाषाओं को 'संस्कृत' के व्याकरण से पूरी तरह से स्वतंत्र मानते हैं। वे लिखते हैं हिन्दी तथा सभी भारतीय भाषाओं की अपनी व्याकरण व्यवस्था है, उनका अपना शब्द भण्डार है। वे इस बात को स्पष्टतौर पर रेखांकित करते हैं कि हिंदी संस्कृत से नहीं निकली। 'संस्कृत' के बाद 'हिन्दी' को प्रतिष्ठित करने के पीछे सक्रिय 'ब्राह्मणवादी' राजनीति को ध्वस्त करते हुए डॉ. धर्मवीर हिन्दी का नाता 'श्रमिक' संस्कृति से जोड़ते हैं। 'राष्ट्र' की अवधारणा – धर्म, जाति, भाषा, संस्कृति प्रदेश – अपने आधारभूत तत्त्वों पर राजनीति करने के अवसर प्रदान करती है। वह इनके दुरुपयोग की छूट भी देती है। 19वीं सदी में प्रिंटिंग प्रेस के साथ आधुनिक हिन्दी का विकास हुआ, इसके साथ ही हिन्दी के साम्प्रदायीकरण की भी शुरुआत हुई। हिन्दी–उर्दू विवाद का इतिहास दो धर्मों की साम्प्रदायिक कट्टरता से जुड़ा है, जिसके आधार पर 'टू नेशन थ्योरी' (Two nation Theory) बनाई गई। क्रिस्टोपर किंग उस समय की 'राष्ट्र की सम्पर्क भाषा' और मुख्यधारा की भाषा को 'हिन्दी–उर्दू' बताते हैं। वे इन्हें अलग–अलग जुबाने नहीं मानते। उस समय इस एक भाषा के तीन रूप प्रचलित थे – एक, हिन्दी–उर्दू; दूसरा, फारसी प्रभावित उर्दू और तीसरा, संस्कृतनिष्ठ हिंदी। अंतिम दो रूपों का राजनीतिकरण हुआ जिनका सम्पर्क भाषा से खास लेना देना नहीं था।[6] हिन्दी–उर्दू विवाद को बढ़ाने में ब्रिटिश सरकार और हिंदी का प्रचार करने वाली समितियों की सक्रिय भूमिका देखी गई। आम जनमानस के बीच जिन भ्रामक धारणाओं का प्रचार व विकास हुआ, वे थीं – 'हिन्दी या हिन्दवी भारत की मूल भाषा है। भारत मूल रूप से हिन्दुओं का राष्ट्र है। उर्दू मुसलमानों की भाषा है। मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और ठीक वैसे ही राज किया जैसे अब ब्रिटिश साम्राज्य कर रहा है।'

इस तरह की भ्रामक धारणाएँ एक खास राजनीति का हिस्सा होती हैं। सांस्कृतिक भेदों का राजनीतिकरण करना ब्रिटिश साम्राज्यवादी राजनीति का भी हिस्सा था। राजनीति में, शिक्षा संस्थानों में साहित्य में, संगठनों, समितियों आदि का निर्माण कर उनमें इस तरह की भ्रामक धारणाओं का विकास किया जाता है। हिन्दी उर्दू विवाद की शुरूआत भी ऐसे ही हुई। जब संवत् 1860 में फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिन्दी उर्दू आध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिन्दी दोनों के लिए अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतंत्र हिंदी खड़ी बोली का अस्तित्व भाषा के रूप में पाया।'[7] गिलक्राइस्ट ने हिंदी को भारत की प्राचीन भाषा माना है। इस तरह के भाषिक विभाजन को अस्वीकार करते हुए अमृतराय लिखते हैं – 'यह उचित नहीं होगा कि हिन्दी/हिन्दवी को केवल हिन्दुओं की जागीर समझा जाए। हिन्दी या हिन्दवी भाषा में काव्य रचना करने वाले कई बड़े कवि मुसलमान ही थे। दूसरे, जहाँ तक भारत की प्राचीन भाषा के रूप में हिन्दवी को देखे जाने का सवाल है, वह मुस्लिम शासकों के आक्रमण से पहले से मौजूद थी और उनके आते ही उसका विकास रुक गया – यह धारणा भी गलत है। भाषा के विकास का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करने से पता चलता है कि मुस्लिम शासकों के आने के बावजूद, भाषा स्वतंत्र रूप से अपना विकास करती रही।[8] 'उर्दू साहित्य का पहला व्यवस्थित इतिहास रामबाबू सक्सेना लिखते हैं, जिसमें वे बताते हैं कि उर्दू भाषा का उद्‌भव पश्चिमी हिन्दी से हुआ है।'[9] इसी तरह उर्दू भाषा–विज्ञानी महमूद शिरीनी के मत का उल्लेख मिलता है, 'वे उर्दू के उद्‌भव के चिह्न पंजाबी में देखते हैं। इसका कारण देते हैं कि मुस्लिम जिस रास्ते भारत आए, वे सबसे पहले पंजाबी भाषा के सम्पर्क में आए।'[10] इससे एक बात तय है कि उर्दू, पंजाबी, हिन्दी के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान की प्रक्रिया से भाषा का सामान्य रूप विकसित हुआ। बाज़ार और व्यापार, लेन–देन आदि हिन्दुओं–मुसलमानों के

बीच आक्रमण से पहले भी मौजूद थे।

हिन्दी–उर्दू के बीच विभाजन का आधार लिपि को बनाया गया। एक ही भाषिक रूप को दो लिपियों में लिखा जा सकता है। अमृतराय इस संदर्भ में पाकिस्तान के भाषा वैज्ञानिक सुहेल बुखारी के मत का उल्लेख करते हैं – 'हम केवल उसी भाषा को उर्दू स्वीकार करते हैं जो फारसी लिपि में लिखी गई है। फारसी लिपि क्योंकि मुसलमान शासकों के साथ भारत आई इसलिए जो उर्दू साहित्य मुसलमान शासकों के आने से पहले देवनागरी लिपि में लिखा गया, उसे भी हम अपने साहित्य में स्थान नहीं देते ... उर्दू साहित्य की पूरी समझ हमने उसकी लिपि के आधार पर बना रखी है, जो कि भाषा विज्ञान के दृष्टिकोण से असंगत है। भाषा आत्मा है तो लिपि उसका शरीर और मात्र शरीर के बदल जाने से उसकी आत्मा का वास्तविक गुण नहीं बदल जाता। ठीक उसी तरह लिपि के भेद से भाषा का वास्तविक रूप नहीं बदल जाता। भाषा संबंधी धारणाओं को लेकर हमारे विचारों में एकरूपता नहीं है। ईरानी साहित्य जो अरबी–फारसी लिपि में लिखा गया और बहुत–सी साहित्य सम्पदा मुसलमानों के आगमन से पहले ईरान में एकत्रित की गई थी, उसे अपनाने में कोई हिचक नहीं होती। पर जब उर्दू साहित्य की बात आती है तो हम तत्काल अपनी सोच को बदल लेते हैं। उर्दू भाषा का जो साहित्य देवनागरी लिपि में लिखा गया है उसे संस्कृत या हिन्दी भाषा का साहित्य समझने की भूल करते हैं। इस तरह उर्दू साहित्य को हम अपने इतिहास से पूरी तरह खारिज़ करते हैं।'[11]

हिन्दी साहित्य और खड़ीबोली से संबंधित धारणाओं में भी इसी तरह की संकीर्णता का परिचय मिलता है। साहित्य और आलोचना में इस तरह की भाषा संबंधी धारणाएँ भी निहित स्वार्थों व राजनीतिक वर्चस्व से पूरी तरह प्रभावित रही है। भारतेंदु युग

में खड़ीबोली को कभी भी पूरी तरह से स्वीकार नहीं किया गया। बोलचाल की भाषा खड़ीबोली ही थी, इसलिए पत्र–पत्रिकाओं में गद्य साहित्य खड़ीबोली में लिखा गया परन्तु काव्य की भाषा ब्रज भाषा ही बनी रही। लेकिन खड़ीबोली के बढ़ते प्रभाव और प्रकाशकों व पाठकों को ध्यान में रखते हुए, इसे साहित्य में प्रतिष्ठित होना ही था। खड़ीबोली साहित्य में आई, पर कई अंतर्विरोधों के साथ। इसके पीछे उस समय के लेखकों की सोच थी।

'राधाचरण गोस्वामी खड़ीबोली और ब्रजभाषा को अलग–अलग भाषाएँ स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार छोटे–मोटे व्याकरणिक भेदों के अलावा उनमें कोई भेद नहीं। परंतु आगे वे इस बात से संशंकित व भयभीत भी होते हैं कि यदि खड़ीबोली को हिन्दी कविता की भाषा के रूप में अपनाया तो इससे उर्दू के प्रवेश का एक और रास्ता खुल जाएगा।'[12] महावीर प्रसाद द्विवेदी आर्य समाजी सिद्धांतों से प्रभावित थे। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में उसमें छपने वाले लेखों, कहानियों व गद्य की सामग्री की भाषा को सुधारने का काम करते हैं। उर्दू उस समय के मुस्लिम भद्र वर्ग की भाषा थी, अदालतों में, सरकारी कामकाज की भाषा थी। उर्दू जानने वालों व फारसी लिखने वालों के लिए कई तरह की नौकरियों में जगह थी। इस जगह को छीनने के लिए उर्दू का विरोध किया गया और धर्म का सहारा लिया गया। इन्हीं कारणों से 'महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864–1938) हिन्दी के संस्कृतनिष्ठ रूप के प्रयोग पर बल देते हैं और उर्दू शब्दों के प्रयोग का विरोध करते हैं। वे उर्दू शब्दों की जगह संस्कृत के शब्दों का चुनाव करते हैं।'[13] हिन्दी–उर्दू के बीच इस तरह के फ़र्क का प्रचार करने में नागरी प्रचारणी सभा (1893) की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस सभा ने हिन्दी–नागरी आंदोलन चलाया। यही इस सभा का प्रमुख उद्देश्य भी था। 'इस क्रम में उन्होंने पुस्तकालय स्थापित किया। प्राचीन हिन्दी की पाण्डुलिपियों की खोज की, अनेक हिन्दी रचनाओं का प्रकाशन और स्कूली

पाठ्य–पुस्तकों का निर्माण करना शुरू किया। नागरी में सुलेख और सर्वश्रेष्ठ हिन्दी रचनाओं के लिए कई पुरस्कार व सम्मान भी रखे। नागरी प्रचारिणी सभा ने ही 1910 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की इलाहाबाद में स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन हिन्दी नागरी का प्रचार प्रसार करने वाला राष्ट्रीय स्तर पर प्रमुख संगठन बन गया। ... इसी संगठन ने हिन्दू–हिन्दी–नागरी और मुस्लिम–उर्दू–फारसी लिपि जैसे सिद्धांत को विकसित किया।[14] इन समितियों और संगठनों के अलावा ब्रिटिश सरकार की नीतियों ने भी इस तरह के विवादों को उकसाया और फलने–फूलने दिया। ऐसा ही हुआ जब 'सन् 1895 में सर एन्टोनी मैकडॉनल्ड का भारत में नए लेफ्टीनेन्ट के रूप में आगमन हुआ। उनका आना हिन्दी–नागरी का प्रचार करने वालों के लिए वरदान साबित हुआ। ... कार्यभार संभालते ही मैकडानल्ड बनारस आए और नागरी–प्रचारणी सभा ने बिना समय व्यर्थ किए उन्हें अभिवादन पत्र भेजा। जवाब में लेफ्टीनेन्ट ने उर्दू के साथ हिन्दी को भी अदालतों की सरकारी भाषा के रूप में जगह देने का वादा किया। इस तरह हिन्दी को उर्दू के साथ राजभाषा के रूप में जगह मिल गई।'[15] अब तक हिन्दी पूरी तरह से साम्प्रदायिक रंग में रंग चुकी थी। भाषा और धर्म को जोड़ने की राजनीति एक ऐसे ऐतिहासिक मिथक का निर्माण कर रही थी जिसके परिणामस्वरूप दो भिन्न 'राष्ट्रों' के निर्माण की अवधारणा विकसित हुई।

पॉल ब्रास लिखते हैं कि 'शिक्षित मुस्लिम समुदाय सरकारी नौकरियों में अपनी जगह सुरक्षित रखने के लिए उर्दू को सरकारी भाषा बनाए रखना चाहता था लेकिन बहुसंख्यक हिन्दी के पक्ष में था।'[16] यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यह विवाद मुख्य रूप से लिपियों का ही था। पॉल ब्रास इन विवादों को भद्र वर्ग की राजनीति का हिस्सा मानते हैं – 'हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच राजनीतिक विवाद थे, प्रशासनिक सेवाओं और राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए उनके बीच प्रतिस्पर्धा थी। इन विवादों और

प्रतिस्पर्धा के कारण ही उन्होंने भाषा और धर्म को प्रतीक बना कर उनका राजनीतिक प्रयोग किया।'[17]

राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के दौरान 'हिन्दुस्तान' की राष्ट्र के रूप में परिकल्पना के प्रतीकों का निर्माण किया गया, जिनका उद्देश्य लोगों को साझे इतिहास से जोड़ने की चेष्टा थी। साम्राज्यवाद का विरोध करना और अपने राष्ट्र के यथार्थ को सामने रखना इनका प्रमुख उद्देश्य था। पर नहीं दूसरी ओर राष्ट्र की संकीर्ण व्याख्या करने वाली विचारधाराओं, धर्म और भाषा जैसे प्रतीकों से मिथकीय राष्ट्र की अवधारणा तो सामने रखी पर साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध किए बिना। गाँधी भी जिस राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत कर रहे थे वह 'हिन्दी–हिन्दू–हिन्दुस्तान' की विचारधारा के आसपास ही थी। वे भी बहुसंख्यक समुदाय को रुष्ट नहीं करना चाहते थे। इसलिए प्रेमचंद जैसे कथाकारों का गाँधीवाद के आदर्शवाद से मोहभंग होना स्वाभाविक ही था। 1936 में प्रगतिशील विचारधारा 'हिन्दी साहित्य' ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय चेतना का हिस्सा बन चुकी थी। प्रेमचंद जानते थे कि भाषा और धर्म पर समुदाय की कल्पना करना गलत होगा। वे 'वर्ग' और जाति ... की समस्या को समाज में प्रमुख मानते थे। इसलिए साम्राज्यवाद का विरोध करना सबसे बड़ी जरूरत मानते थे। दिसम्बर सन् 34 में दक्षिण भारत में हिंदी प्रचार सभा के अधिवेशन में प्रेमचंद जो कहते हैं उसका उल्लेख रामविलास शर्मा करते हैं – 'जो राष्ट्र के अगुआ हैं, जो इलेक्शनों में खड़े होते हैं और फतह पाते हैं, उनसे मैं बड़े अदब के साथ गुज़ारिश करूँगा कि हज़रत इस तरह के एक सौ इलेक्शन आएँगे और निकल जाएँगे, आप कभी हारेंगे, कभी जीतेंगे; लेकिन स्वराज्य आपसे उतनी ही दूर रहेगा, जितनी दूर स्वर्ग है। अंग्रेज़ी में आप अपने मस्तिष्क का गूदा निकालकर रख दें; लेकिन आपकी आवाज़ में राष्ट्र का बल न होने के कारण कोई आपकी उतनी भी परवाह न करेगा, जितनी बच्चों के रोने की करता है।[18] ... वे समाज को अंग्रेज़ीदाँ और

गैर–अंग्रेज़ीदाँ में बँटा देखते हैं। ज़ाहिर–सी बात है यह अंग्रेज़ीदाँ वर्ग पढ़ा लिखा, पश्चिम के प्रभाव में, राजभक्त और सम्पन्न वर्ग है और अनपढ़ अशिक्षित गाँवों में बसने वाला निम्न वर्ग, गरीबी, भुखमरी और हर तरह के शोषण से ग्रसित गैर अंग्रेज़ीदाँ है। देखा जाए तो बात आज भी ज्यादा बदली नहीं है।

कश्मीर में, भारत–चीन सीमा और बंगलादेश–सीमा पर रहने वाले लोगों की वास्तविक स्थिति देखने पर पता चालता है कि धर्म और भाषा जेसे प्रतीकों पर निर्मित राष्ट्र या राष्ट्रीय चेतना कितनी निरर्थक और झूठी है जहाँ की गरीब जनता ने न कभी राष्ट्रीय झण्डा देखा, न राष्ट्र–गीत का उनके लिए कोई अर्थ है। एक भौगोलिक प्रदेश जहाँ एक भाषा बोली जाती है उसे जब दो राष्ट्रों की सीमाओं में बाँट दिया जाता है और एक दिन अचानक उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे दो भिन्न राष्ट्रीयताओं के प्रति अलग–अलग राष्ट्रीय भावनाओं को विकसित कर लें। सुधीर चंद्र राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान विकसित हुई भारतीय राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हैं – 'जहाँ तक भारतीय राष्ट्रवाद का संबंध है, उन्नीसवीं सदी के आखिर में शुरू होकर यह प्रवृत्ति बंगाल में पनपे क्रांतिकारी आंदोलन के दौरान बीसवीं सदी के शुरू के सालों में पूरी तरह उभर कर आई। राष्ट्र ही ईश्वर हो गया और राष्ट्र ही धर्म।'[19] अभिप्राय यह है कि धर्म की व्याख्या नए संदर्भों में होने लगी जब ईश्वर 'राष्ट्र' बन गया। देश कल्पना 'मातृभूमि' के रूप में की गई। बाद में धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद से प्रेरणा लेने वाला आंदोलन भी साम्प्रदायिकता के आवेग को रोक न पाया। सुधीर चंद्र राष्ट्रीय आंदोलन की अनेक कमियों के बावजूद मानते हैं कि 'उसका बुनियादी स्वरूप एक मुक्तिकामी विचारधारा का था।' जो कमियाँ राष्ट्रीय आंदोलन में थीं, ऐसा नहीं कि उसका नेतृत्व करने वाले बुद्धिजीवी, वैचारिक वर्ग ने उनके प्रति सचेत न किया हो – 'पर स्वतंत्रता संग्राम के उन्माद के समय भी टैगोर और प्रेमचंद जैसे संवेदनशील लेखकों ने राष्ट्रवाद के खतरों और उसके घिनौने रूप को साफ़ साफ़

देख लिया और दर्शा दिया था। राष्ट्रवाद पर दिए गए टैगोर के व्याख्यान, स्वदेशी को लेकर गाँधी से उनकी सार्वजनिक असहमति और 'घरे बाइरे' जैसे उनके उपन्यास आज भी प्रासंगिक हैं और हमको आश्चर्य में डाल देते है कि कैसे टैगोर देश की आज़ादी के प्रति समर्पित रहते हुए भी राष्ट्रवाद के नकारात्मक पहलुओं को उस समय ही पहचान गए। टैगोर जैसी बारीकी और पैनापन भले ही वहाँ न हो, प्रेमचंद के अनेक लेखों और प्रेमाश्रम, कर्मभूमि और गोदान जैसे उपन्यासों में भी राष्ट्रवाद के अनाकर्षक यथार्थ का पर्याप्त चित्रण और विश्लेषण है।'[20]

राष्ट्रीय आंदोलन की इन खामियों का नतीजा हुआ – भारत और पाकिस्तान का दो राष्ट्रों में विभाजन। इस विभाजन का आधार भाषा और धर्म को बनाया गया। जिन मुसलमानों ने एक समय मुस्लिम लीग का साथ दिया, जिसकी परिणति विभाजन के रूप में सामने आई, बाद में उन्हें ही इसका सबसे अधिक मुआवज़ा भरना पड़ा। स्वाधीन भारत में उनके अलग निर्वाचन क्षेत्र समाप्त कर दिए गए, भारत की राजभाषा के रूप में देवनागरी लिपि में हिन्दी को रखा गया। राष्ट्र न धर्म के आधार पर बनते हैं न भाषा के आधार पर। ये उसके निर्धारक तत्त्व अवश्य होते हैं पर पूर्णतः नहीं। इन पर आधारित राष्ट्रवाद को बिपिन चंद्र 'झूठा/मिथ्या राष्ट्रवाद' कहते हैं। जिसने क्षेत्रवाद और साम्प्रदायिक जैसी धारणाओं को जन्म दिया और ऐसा भ्रम पैदा किया कि यही 'राष्ट्रीयता' है।' धर्म और भाषा ही अगर राष्ट्रवाद के आधार होते तो 'बंगलादेश' न बनता। अनेक ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ 'इस्लाम धर्म' है, पर राष्ट्र के रूप में उनकी भौगोलिक सीमाएं अलग–अलग हैं। साम्प्रदायिकता और पृथकतावाद जैसी समस्याओं से निपटने के लिए ही भारत ने धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी गणतंत्र होने का निर्णय लिया। धर्म के आधार पर किसी भिन्न प्रांत के निर्माण की मांग को स्वीकार नहीं किया जाएगा, इसलिए भाषावार प्रांत बनाने का निर्णय किया। इससे सभी प्रांतीय भाषाओं को अपना विकास करने का पूरा अवसर

मिलेगा, ऐसा सोचा गया।

भारत की भाषिक भिन्नता को ध्यान में रखकर ही सामाजिक संस्कृति का विकास करने के लिए भाषावार प्रांत की अवधारणा को अपनाया गया। पर पंजाबी सूबे की मांग, उत्तर और दक्षिण भाषाओं में परस्पर अलगाव, उत्तर–पूर्वी जन–जातियों द्वारा स्वयं को भिन्न राष्ट्रीयता के रूप में देखना, जैसी समस्याएँ बार–बार सामने आईं। अंग्रेज़ी की मौजूदगी से भारतीय भाषाओं का प्रयोग प्रभावित हुआ। अंग्रेज़ी बाज़ार की वर्चस्वशाली भाषा के रूप में स्थापित होती चली गई।

भाषाओं के आधार पर राष्ट्र के प्रदेशों को निर्मित किया गया, जो सांस्कृतिक स्वायत्तता प्रदान करने का सबसे उचित निर्णय था। पर केन्द्र में राजभाषा के रूप में अंग्रेज़ी साहबी ज़ुबान बनी रही। प्रस्तुत मानचित्रों – 1, 2, 3, और 4 में यह देखा जा सकता है कि स्वाधीनता से पूर्व भाषा के आधार पर प्रमुख प्रांत (मानचित्र–1) – पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगाली, कन्नड, तेलगु, तमिल और सबसे बड़ा हिन्दी का क्षेत्र था। इसी आधार पर हिन्दुस्तानी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का प्रस्ताव किया गया। मानचित्र–2 में प्रमुख प्रशासनिक क्षेत्रों को देखा जा सकता है। मानचित्र–3 और 4 में स्वाधीनता के बाद प्रमुख प्रशासनिक क्षेत्रों और भाषा के आधार पर अनेक प्रांतों की विस्तृत जानकारी मिलती है। स्वाधीनता के बाद भारतीय संविधान में ब्रिटिश सरकार की तुलना में सभी प्रमुख भाषाओं को केन्द्र की राजनीति व राजकाज में अपनी जगह बनाती है।'[21] बेनिडिक्ट एंडरसन 'काल्पनिक' राष्ट्रवाद की अवधारणा को सामने रखते हैं। वे लिखते हैं कि 'द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जिन नए राज्यों का उदय हुआ वे अपना खास चरित्र रखते जिनका समावेश यूरोपीय राष्ट्रवाद की अवधारणा के अंतर्गत नहीं किया जा सकता। ... ये गैर–यूरोपीय राष्ट्र यूरोपीय राज्य की भाषा को अपनाते हैं। ... यूरोपीय और अमेरिकी राष्ट्रवाद के आधार पर अपने राष्ट्रवाद का काल्पनिक ढाँचा निर्मित करते हैं। ये यूरोपीय

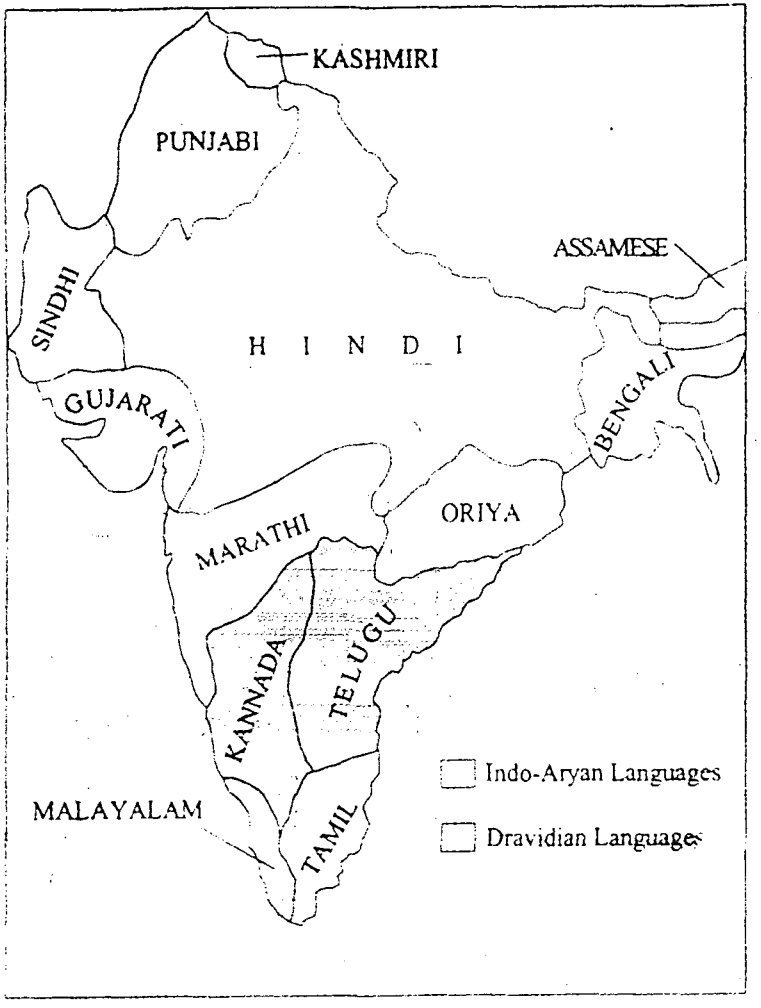

Map 1. Major Linguistic Regions (Schedule Eight Languages).

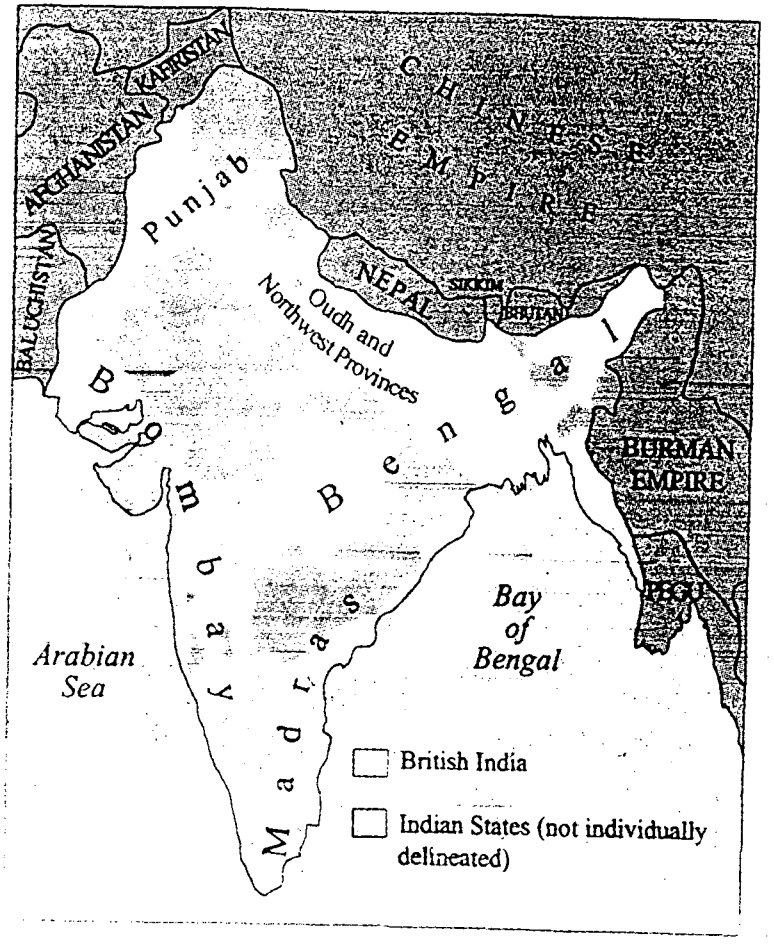

Map 2. Major Administrative Regions, 1857.

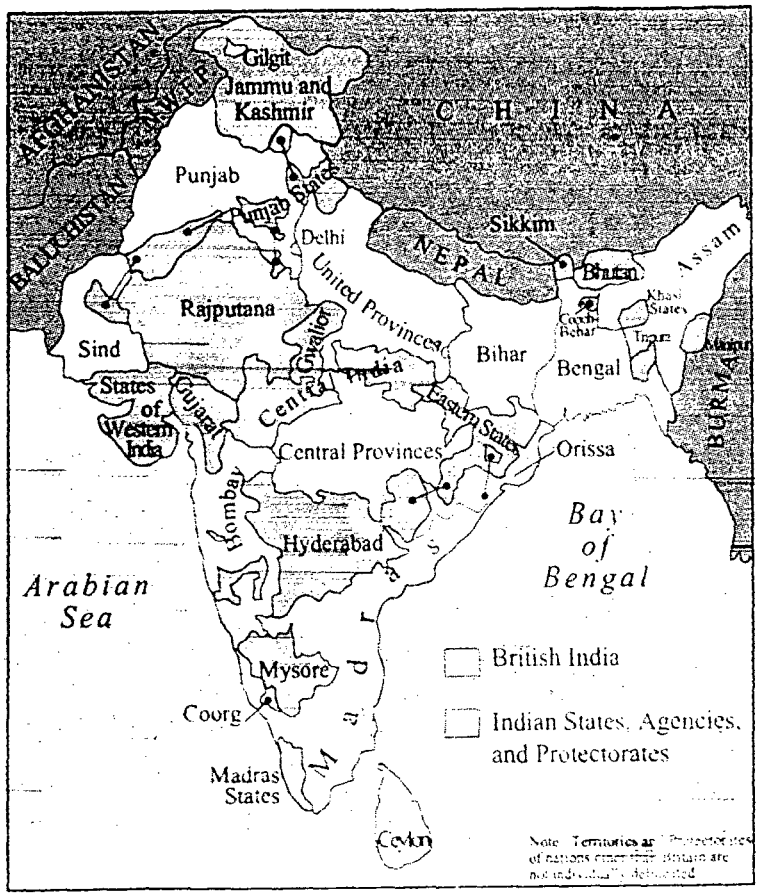

Map 3. Major Administrative Divisions at Independence.

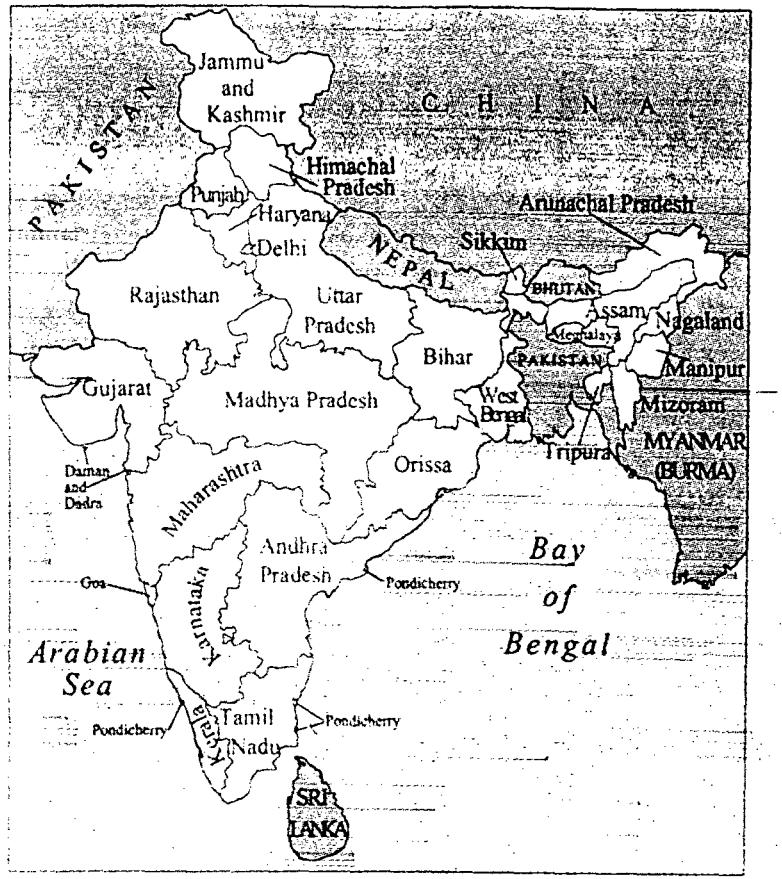

Map 4. State Boundaries after Linguistic Reorganization.

भाषाएँ साम्राज्यवादी राष्ट्र की विरासत के रूप में इन्हें मिली हैं।'[22] पॉल ब्रास की तरह एंडरसन का भी यही मानना की राष्ट्रवाद की राजनीति की डोर मुख्य रूप से आर्थिक रूप से सम्पन्न भद्र वर्ग उद्योगपतियों व व्यापारियों के हाथ में थी जिसका राजनीति से सीधा वास्ता था। 'पूँजी और अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक सत्ता का एकाधिकार था या वह अव्यवस्थित रूप से उन व्यापारियों के बीच बँटी हुई थी जो वहाँ के निवासी न होकर बाहर के थे और राजनीति से उनका कुछ लेनादेना नहीं था।' एंडरसन राजनीति से संबंध रखने वाले इस उच्च वर्ग की सफलता का कारण 'द्विभाषिकता' को मानते हैं। प्रिंटिंग–प्रैस के कारण यह संभव हो सका। 'भाषा' के माध्यम से सामासिक–संस्कृति बनाई जा सके। अंग्रेज़ी–हिंदी पर समान अधिकार रखने वाले इस शिक्षित वर्ग के कारण राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता और राष्ट्र राज्य जैसी अवधारणाएँ सामने आईं। इन्हीं सब कारणों से एंडरसन एशिया–अफ्रिका, चीन–अरब के उपनिवेशों के राष्ट्रवाद को मुख्य रूप से भाषा पर आधारित मानते हैं।

वास्तविकता यह है कि न धर्म के आधार पर राष्ट्र बनते हैं, न भाषा के। ऐसे भी कई राष्ट्र हैं जहाँ एक से अधिक राष्ट्र भाषाएँ हैं, जैसे कनाडा – जहाँ अंग्रेज़ी और फ्रेंच दो राष्ट्रभाषाएँ हैं। इसी तरह श्रीलंका में सिनहाली और तमिल दोनों ही राष्ट्रभाषाएँ हैं। स्विटज़रलैंड में दो से भी अधिक राष्ट्रभाषाएँ हैं – जर्मन, फ्रेंच, रोमन और स्विस। भारत में राज्यों का आकार इन राष्ट्रों की तुलना में छोटा है और भाषाएँ अधिक हैं। इसलिए यह निर्णय लिया गया कि केन्द्र की एक राजभाषा होगी और राज्यों में प्रांतीय भाषाएँ अपनी स्वायत्तता का पूरी तरह से लाभ उठाएँगी।

भाषाओं के आधार पर अलगाव की राजनीति जब की जाती है तब हिन्दी–उर्दू विवाद, बंगलादेश की स्वाधीनता या बाद में अलग पंजाबी सूबे का मांग जैसे अनेक उदाहरण देखे जाते हैं। पर इस तरह की राजनीति जो भाषा और धर्म का प्रतीकों के रूप

में इस्तेमाल करती हैं, अलगाव और 'क्षेत्रीय राष्ट्रवाद' को जन्म देती है। उसकी राजनीति के बावजूद कुछ सच्चाइयाँ फिर भी सामने आ जाती हैं, जैसे – कश्मीर के संदर्भ में लिखते हुए अशोक सेकसरिया अपने लेख – 'एक सुंदर सपने की ट्रेजडी' में बताते हैं कि अक्टूबर 1939 में नेशनल कांफ्रेंस ने शासन, मताधिकार, अल्पसंख्यकों के लिए संरक्षित सीटों की माँग करते हुए राष्ट्रीय माँग का प्रस्ताव किया। इसी के साथ 'एक और प्रस्ताव में कांफ्रेंस ने सिफारिश की कि फारसी और देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली 'हिन्दुस्तानी' रियासत की सरकारी भाषा के रूप में इस्तेमाल की जाए।'[24] एक मुस्लिम बहुल प्रांत में 'हिन्दुस्तानी' भाषा की आवश्यकता कई सवालों के जवाब देती है।

यहाँ स्पष्ट है कि भाषा को आधार बनाकर समुदाय की पहचान बनाना भी एक राजनीतिक प्रयोग ही है। सामुदायिक हित भाषा से कहीं आगे व्यापक सांस्कृतिक संदर्भों में देखे जाने चाहिए।

वर्चस्वशाली वर्गों का पूँजी पर नियंत्रण विश्व स्तर पर फैल गया है। अब इसे केवल एक 'राष्ट्र' का मसला नहीं समझा जाना चाहिए। ये वर्ग अपनी सुविधा के लिए 'राष्ट्रों' का विलय भी करते हैं और खण्डन भी। उनकी अर्थव्यवस्थाएँ एक ऐसे सांस्कृतिक आर्थिक उपनिवेशवाद को जन्म दे रही हैं जिसमें कई अर्थव्यवस्थाएँ, पराधीन व पंगु बनती जा रही हैं और उनकी भाषाएँ व संस्कृतियाँ अपना महत्व व उपयोगिता खोती जा रही हैं। क्षेत्रीय राष्ट्रवाद, धार्मिक राष्ट्रवाद जैसी अवधारणाएँ जिस भ्रमित करने वाले और मिथ्या किस्म के राष्ट्रवाद को जन्म देती हैं, ये भी विश्व स्तर की समस्याएँ बन चुकी हैं। इनका सामना करने के लिए गैर राष्ट्रवादी होने के स्थान पर एक ऐसे जनाधारित 'राष्ट्रवाद' का निर्माण किया जाना चाहिए जिसमें सभी वर्गों को एक साथ विकास करने का अवसर मिले। 'राष्ट्रवाद' की व्याख्या को व्यापक संदर्भों में करते हुए प्रत्येक राष्ट्र इसे अपने ढंग से पुनर्परिभाषित करे। राष्ट्रवाद का एक रूप यदि उपनिवेशवाद का विरोध था तो वह

ज़रूरत अब भी है। इसके लिए अपनी व्यवस्था और भाषिक संस्कृतियों को सामासिक–संस्कृति के रूप में पुनर्गठित किया जाए।

उत्तर औपनिवेशिक परिस्थितियों में यह संघर्ष नया रूप ले चुका है। उत्तर–औपनिवेशिक स्थितियों में भारत की आंतरिक समस्याओं के साथ–साथ नव उपनिवेशवाद ने नई समस्याओं को पैदा किया है। जिसमें 'सांस्कृतिक वर्चस्व' की लड़ाई प्रमुख है। समृद्ध–विकसित राष्ट्रों की भाषा और संस्कृति को पूर्व–उपनिवेशों, अविकसित या पिछड़े देशों पर लादा जा रहा है। उनके नज़रिए से इतिहास और दुनिया की व्याख्या की जा रही है।

आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि एशिया–अफ्रीका के इन देशों को वास्तव मे औपनिवेशिक दासता से कभी मुक्ति मिली ही नहीं। भारत जैसे उपनिवेशों को डी–कोलोनाइज़ किया गया अर्थात् राजनीतिक स्वाधीनता तो दी गई पर ऐसे देशों की अर्थव्यवस्थाएँ तब भी साम्राज्यवादी ताकतों के नियंत्रण में ही रही। साम्राज्यवादी शासन के लिए जब अपने उपनिवेशों का शासन चलना संभव न रहा, उसके बड़े आकार के कारण अधिक खर्च उठा पाना मुमकिन न रहा तब उपनिवेशों को राजनीतिक दासता से तो मुक्ति दी गई परंतु उनकी पूँजी व उत्पादन पर नियंत्रण बनाए रखा। इस नए किस्म के साम्राज्यवाद की व्याख्या विश्व पूँजीवाद के संदर्भ में की जानी चाहिए। जिसमें सभी महत्त्वपूर्ण काम उनकी भाषाओं में हो रहे हैं – ज्ञान–विज्ञान, तकनीक, शिक्षा और विकास के साधनों की जानकारी सब पूँजीपति राष्ट्रों की भाषाओं में उपलब्ध हैं। इनके विकास का केन्द्र भी यही राष्ट्र बनते जा रहे हैं। जबकि भारत जैसे देश अपनी आंतरिक भाषाई समस्याओं और राष्ट्र की सीमाओं जैसी समस्याओं में ही उलझ कर रह गए। स्वतंत्र हुए उपनिवेश राष्ट्रीय बाज़ारों में तबदील कर दिए गए। पूँजीवाद की इस अवस्था में विश्व का ध्रुवीकरण 'केन्द्र' और 'हाशिए' की संस्कृतियों के रूप में हो चुका है। हाशिए पर पड़ी वे

संस्कृतियाँ हैं जिनकी भाषाएँ पंगु बना दी गई हैं ताकि वे किसी भी तरह के ज्ञान–विज्ञान का विकास न कर सकें। इस नव–उपनिवेशवाद को सांस्कृतिक उपनिवेशवाद भी कहा गया है क्योंकि पूँजी का विनिवेश भाषा और संस्कृति के अन्य माध्यमों द्वारा किया जा रहा है।

यह सांस्कृतिक उपनिवेशवाद केवल ब्रिटिश साम्राज्य तक सीमित नहीं है, न ही योरोप तक, अब इसका स्थान भिन्न दुनियाओं ने ले लिया है। प्रथम विश्व में वे (साम्राज्यवादी) देश हैं जो उन्नत एवं विकसित हैं, समृद्ध हैं। दूसरी दुनिया उन देशों की है जो 'प्रथम विश्व' के सहयोगी, मित्र और पूरक होने की भूमिका अदा कर रहे हैं। अंतिम तीसरी दुनिया इन देशों की है जो कभी उपनिवेश थे, वे अब भी पिछड़े व अविकसित हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी भाषा और उसका वर्चस्व भारतीय भाषाओं की भिन्नता का लाभ उठाने वाली राजनीति के कारण ही कायम नहीं है। इससे कहीं ज़्यादा विश्व–स्तर की वे परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं जो विश्व को एक 'ग्लोबल विलेज़' में तबदील कर कई भाषाओं और संस्कृतियों को निगल लेना चाहती हैं। जो कई हाशिए पर पड़ी संस्कृतियों को वैचारिक दासता में जकड़े हुए हैं। औपनिवेशिक शिक्षा और भाषा के माध्यम से साम्राज्यवादी संस्कृति को सहज मान कर आत्मसात् किया जा रहा है, यह नव–उपनिवेशवाद की वह अवस्था है जिसमें 'राष्ट्र', 'राष्ट्रीयता' और 'राष्ट्रवाद' जैसी धारणाएँ मिथक ही बन गई हैं। यह नई शिक्षा पद्धति 'राष्ट्र' की सीमाओं को तोड़ कर एक ऐसा आभिजात्य वर्ग तैयार कर रही है, जो प्रथम विश्व की सेवा में कार्यरत रहें। एज़ाज अहमद संस्कृति की प्रवाहशीलता पर बल देते हुए उसकी व्यापक संदर्भों में व्याख्या करने की बात कहते हैं। वे संस्कृति को राष्ट्रीय सीमाओं से भी ऊपर देखते हैं जिसमें सभी के सामान्य हित शामिल हों। एक प्रकार से जैसे विश्व की वर्चस्वशाली संस्कृति देशज अभिजात्य वर्गों का निर्माण कर रही है। उसके विपरीत हाशिए पर पड़ी संस्कृतियों और वर्गों को एक जुट किया जाए।

संदर्भ सूची

1. बिपिन चंद्र – हिस्ट्री ऑफ माडर्न इण्डिया एण्ड कम्युनिकेशन, पृ. 37.
2. समकालीन भारत बिपिन चंद्र, पृ. 75
3. वही, पृ. 76.
4. वीरभारत तलवार : हिन्दू नवजागरण की विचारधारा, पृ. 83.
5. वीर सावरकर ग्रंथावली, भाग–9, पृ. 76, 97.
6. क्रिस्टोफर किंग : वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्टस्, पृ. 175.
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इंतिहास, पृ. 227.
8. अमृत राय : ए हाउस डिवाइडेड, पृ. 2.
9. वही, पृ. 19.
10. वही, पृ. 18.
11. वही, पृ. 26.
12. वही, पृ. 34.
13. वही, पृ. 35.
14. पृ. 127.
15. वही, पृ. 148.
16. पॉल ब्रास : लैंग्वेज रिलिजन एण्ड पॉलिटिक्स इन नार्थ इण्डिया, पृ. 134.
17. वही, पृ. 137.
18. डॉ. रामविलास शर्मा : प्रेमचंद और उनका युग, पृ. 146.
19. सुधीरचंद्र : हिन्दू, हिन्दुत्व, हिन्दुस्तान, पृ. 97.
20. वही, पृ. 97.
21. राबर्ट डी. किंग : नेहरू एण्ड द लैंग्वेज़ पॉलिटिक्स आफ इंडिया, पृ. 3–4.
22. बेनिडिक्ट एंडरसन : इमैजिन्ड कम्युनिटीज़, पृ. 113.
23. वही, पृ. 116.
24. सम्पादक : राजकिशोर – कश्मीर का भविष्य, पृ. 24.

संदर्भ ग्रन्थ सूची

ओंकार शरद (सम्पादक) – भारतमाता : धरतीमाता
राममनोहर लोहिया के सांस्कृतिक लेख
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (1996)

कुमार, कृष्ण – राज, समाज और शिक्षा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली / पटना
(पाँचवी आवृत्ति – 1999)

कुमार, कृष्ण – विचार का डर
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण – 1996

गाँधी ज़ी – मेरे सपनों का भारत
नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14
(पहली आवृत्ति–1960) पांचवाँ पुनर्मुद्रण – 1999

गाँधी महात्मा – हिन्दू – धर्म क्या है ?
(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् की ओर से)
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
(तीसरी आवृत्ति – 2000)

गाँधी जी – हिन्द स्वराज
नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–14
(पुनर्मुद्रण – 1997)

गुप्त, बालमुकुंद – शिवशंभु के चिट्ठे
राजकमल पेपरबैक्स (आवृत्ति – 2001)

चन्द्र, बिपिन – आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, (प्रथम संस्करण – 1996)
पुनर्मुद्रण–1997

चन्द्र, बिपिन – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
(संस्करण – 1998)

चंद्र, बिपिन – समकालीन भारत
अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली – 110002
(संस्करण – 2005)

चन्द्र, सुधीर – हिन्दू, हिन्दुत्व, हिन्दुस्तान
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (2003)

टैगोर, रवीन्द्रनाथ – राष्ट्रवाद (अनुवाद – सौमित्र मोहन)
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
(पहला संस्करण – 2003)

तलवार, वीरभारत (सम्पादित) – ताराबाई शिंदे : स्त्री–पुरुष तुलना
राजकमल पेपरबैक, संस्करण 2003

तलवार, वीरभारत – रस्साकशी
19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत
सारांश प्रकाशन, दिल्ली–हैदराबाद (2002)

तलवार, वीरभारत — हिन्दू नवजागरण की विचारधारा
सत्यार्थ प्रकाशन : समालोचना का एक प्रयास
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास, शिमला
(प्रथम संस्करण – 2001)

तलवार, वीरभारत और नामवर सिंह (संपादक) — राजा शिवप्रसाद सिंह 'सितारे हिंद'
प्रतिनिधि संकलन
(हिंदी नवजागरण के अग्रदूत)
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (2004)

त्रिवेदी, सुशील — बंकिम रचनावली (खण्ड 1 और 2)
सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली–110007
प्रथम संस्करण -- 1997

थ्योंगो, न्गुगी वा — भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता
सारांश प्रकाशन
प्रथम पेपरबैक संस्करण – 1999

दुबे, श्यामाचरण — परम्परा, इतिहास–बोध और संस्कृति
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
(द्वितीय संस्करण–1992)

दुबे, श्यामाचरण — परम्परा और परिवर्तन
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली – 110003
(पहला संस्करण – 2001)

दुबे, श्यामाचरण — संक्रमण की पीड़ा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
संस्करण – 1994

धर्मवीर – हिन्दी की आत्मा
समता प्रकाशन
शाहदरा, दिल्ली, 1989

निराला सूर्यकांत त्रिपाठी – अनामिका
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, पटना (आवृत्ति – 1998)

पचौरी, सुधीश – उत्तर आधुनिकता और उत्तर संरचनावाद
हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली – 110031
(प्रथम संस्करण – 1994)

पाण्डेय, मैनेजर – साहित्य और इतिहास दृष्टि
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
(द्वितीय संस्करण – 2000)

प्रेमचंद – प्रेमचंद के विचार (भाग दो)
सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद : दिल्ली
संस्करण – 1982

बनर्जी, हिरण्मय – ईश्वरचंद्र विद्यासागर
(अनुवादिका – शुभा वर्मा) (भारतीय साहित्य के निर्माता)
साहित्य अकादमी (पुनर्मुद्रण – 1999)

बाहरी, हरदेव – हिन्दी : उद्‌भव विकास और रूप
किताब महल
(संस्करण – 1996)

भट्टाचार्य, अमित्रसूदन – बंकिम चंद्र
(संपादक) प्रतिनिधि निबंध (अनुवाद – प्रयाग शुक्ल)
नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (1995)

भट्टाचार्य, मालिनी (सम्पादक) – अयोध्या : कुछ सवाल
सारांश प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1994

भारतेंदु हरिश्चंद्र – प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
(तृतीय संस्करण – 1999)

मल्ल, विजयशंकर (संपादक) – प्रतापनारायण ग्रंथावली
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, नई दिल्ली
संस्करण – सम्वत् 2049 (सन् 1992)

मार्क्स, कार्ल – भारत सम्बन्धी लेख
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
वर्ष – 1983.

मिश्र, सत्यप्रकाश – बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
(प्रथम संस्करण – 1998)

राजकिशोर – अयोध्या और उससे आगे
(आज के प्रश्न)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
प्रथम संस्करण–1993
(तीसरा संस्करण – 1995)

राजकिशोर (सम्पादक) – हिन्दू होने का मतलब (आज के प्रश्न)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002

राजकिशोर (सम्पादक) – कश्मीर का भविष्य
(आज के प्रश्न)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
(द्वितीय संस्करण 1996)

राजकिशोर (सम्पादक) – भारत का राजनीतिक संकट
(आज के प्रश्न)
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
(प्रथम संस्करण – 1994)

लाल, श्रीकृष्ण – श्रीनिवास ग्रंथावली
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
(संस्करण – 1943)

लोहिया, राममनोहर – हिन्दू बनाम हिन्दू
लोकभारती प्रकाशन (इलाहाबाद)
प्रथम संस्करण 1996

विमल कीर्ति, एल.जी. मेश्राम (सम्पादक) और अनुवादक – महात्मा जोतिबा फुले रचनावली, भाग 1 और 2
राधाकृष्ण प्रकाशन
(पहली आवृत्ति – 2002)

शर्मा रामविलास – भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद,
भाग 1 और 2
राजकमल प्रकाशन (प्रथम संस्करण – 1982)

शर्मा रामविलास – भारतीय नवजागरण और योरोप
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

शर्मा, रामविलास — भाषा और समाज
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पटना
(तीसरा संस्करण–1989)

शर्मा, हेमंत (सम्पादक) — भारतेन्दु समग्र (भारतेंदु ग्रंथावली)
प्रचारक ग्रंथावली परियोजना
हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी
(तृतीय संस्करण – 1989)

शुक्ल, देवीदत्त और
धनंजय भट्ट 'सरल' (संपादक) — भट्ट निबंधावली (पहला भाग)
हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
12, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद (1997)

शुक्ल, रामचंद्र — हिंदी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभी, काशी
(अट्ठाइसवाँ संस्करण–1994)

शंभुनाथ (संपादक)
(संपादक) — सामाजिक क्रांति के दस्तावेज़
(भारतीय नवजागरण के अग्रदूतों के लेखन और
भाषण से एक चयन) भाग 1 और 2
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002
(प्रथम संस्करण 2004)

श्रीवास्तव, रवींद्रनाथ और
रमानाथ सहाय (संपादक) — हिन्दी का सामाजिक संदर्भ
केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा
(तृतीय संस्करण – 1990)

सावरकर समग्र : स्वातंत्र्यवीर वि.द. सावरकर
प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण – 2003

सिंह, नामवर व सत्यप्रकाश मिश्र (संपादक) – बालकृष्ण भट्ट : प्रतिनिधि संकलन (हिंदी नवजागरण के अग्रदूत) नेशनल बुक ट्रस्ट; इंडियाी (1995)

सिंह, जगमोहन और चमनलाल (संपादक) – भगतसिंह और उनके साथियों के दस्तावेज राजकमल पेपरबैक्स (आवृत्ति–2001)

सिंह, नत्थन – बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ (प्रथम प्रकाशन – 1993)

सिंह, नामवर – छायावाद राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम पेपरबैक संस्करण – 1993

सिंह, नामवर – आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद–1 (संस्करण – 1995)

सिंह, नामवर और रामबक्ष (संपादक) – महावीर प्रसाद द्विवेदी (हिंदी नवजागरण के अग्रदूत) प्रतिनिधि संकलन नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (संस्करण – 1997)

सिंह, नामवर और विश्वनाथ त्रिपाठी (संपादक) – चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' प्रतिनिधि संकलन (हिंदी नवजागरण के अग्रदूत) नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया (1995)

सिंह, बच्चन – आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास
लोकभारती प्रकाशन (संस्करण – 1997)

हरिबाबू कंसल, जगन्नाथ (संकलन कर्ता) – संघ की राजभाषा
आफिसियल लैंग्वेज आफ द यूनियन
केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद, 1981
नई दिल्ली–110023

हुसैन, एस. आबिद – भारत की राष्ट्रीय संस्कृति
अनुवाद – दुर्गाशंकर शुक्ल
नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया
(प्रथम आवृत्ति 1993)

पत्र–पत्रिकाएं

सम्पादक : प्रभात रंजन, बहुवचन (हिन्दी त्रैमासिक)
महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन,
वर्ष : 3, अंक–11, अप्रैल–जून – 2002.

सम्पादक : राजेन्द्र यादव, हंस, मई 1999,
लेख – मैनेजर पाण्डये, राष्ट्रवाद उपन्यास और प्रेमचंद, पृ. 33–38

सम्पादक : राजेन्द्र यादव, हंस, अक्टूबर, 1987,
नामवर सिंह, शिकवा और जवाब–ए–शिकवा, पृ. 16–19

सम्पादक : राजेन्द्र यादव, हंस, अप्रैल, 1999
लेख : राष्ट्रवाद और उपन्यास, पृ. 4–8

Bibliography

Ahmad, Aijaz – On Communalism and Globalization Offensives of the Far Right. Published by Three Essays. First Edition – August 2002.

Anderson, benedict – Imagined Communities Reflections on the Origin and Spread of Nationalism. (Ist Published by Verso 1983). Verso, Under New York (12th Impression 2003).

Brass Paul R. – Ethnicity and Nationalism Theory and Comparison, Sage Publications. Sage Publications, new Delhi/London (Tenth Printing 2003).

Brass, Paul R. – Language, Religion and Politics in North India, Cambridge University Press (1974).

Chandra, Bipan - Nationalism and Colonialism in Modern India, Orient Longman Limited. (Reprinted 1984).

Chandra, Sudhir – The Oppressive Present. Literature and Social Consciousness in Colonial India, Oxford India Paperbacks (OUP, New Delhi) (Second Impression 1999).

Chatterjee and Pandey (ed.) Sabaltern Studies VII, Writings on South Asian History and Society, Oxford India Paperbacks. (OUP), Delhi. (Fourth Impression 1997).

Chatterjee, Partha – Nationalist Thought and the Colonial World. Oxford University Press Delhi (1986).

Chatterjee, Partha – the Nation and Its Fragments Colonial and Post-colonial Histories. Oxford India Paperbacks (OUP) New Delhi (Third Impression 1999).

Dalmina, Vasudha – The Nationalization of Hindu Traditions Bhartendu Harishandra and Nineteenth Century, Oxford India Paperbacks (OUP), Delhi. (1999).

Desai A.R. – Social Background of Indian Nationalism Popular Prakashan, Bombay (Reprinted 1984).

Dutt, R.C. (Builders of Modern India), Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India (1981).

Grewal and Indu Banga (Ed.) – History and Ideology, The Khalsa over 300 years, Tulika Publications ,New Delhi, Reprint- 2001

Ilaiah, Kancha – Buffalo Nationalism. A critique of Spiritual Fascism, Samya, Kolkata (July 2004).

Lenin, V. I. – On Religion (Translated from the Russian) Progress Publishers, First Printing 1965, Moscow, (5th Printing 1978)

Joshi, P.C. - Secularism and Development: The Indian Experiment. Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi, 1999.

King, Christopher R. - One Language Two Scripts. The Hindi Movement in 14th Cent. North India, OUP, 1994.

King, Robert D. – Nehru and the Language Politics of India, Oxford India Paperbacks (OUP), Delhi, 1998.

Kohn, Hans – Nationalism: Its' Meaning and History, Van National London, Annil Books (1965).

Kothari, Rajni – Politics in India, Orient Longman, New Delhi (1970).

Loomba, Ania – Colonialism/Post Colonialism the New Critical Idiom, Rutledge, London and Yew York (Ist Published 1998) (Reprinted 2001).

Mehta, Pratap Bhanu – The Burden of Democracy Penguin Books, Panchsheel Park, New Delhi, India (2003).

Mongia, Padmini - Contemporary Postcolonial theory. A Reader, Oxford University Press, London, New Delhi, 1994.

Naroji, Dadabhai – Poverty and Un-British Rule in India. (Second Edition May 1996) Classic of Indian History and Economics, Publications Division (Ministry of Information and Broadcasting, Government of India).

Rai, Alok – Hindi Nationalism (Tracts for the Times/13), Orient Longman, (First Published 2001).

Rai, Amrit – A House Divided, The Origin and Development of Hindi/Hindavi. OUP 1984.

Rise, Philip and Patrishia Vam – Modern Literary theory, Orient Longman Publication, London, First Print. 2003

Sarkar, Sumit – Modern India (1995-1947), Macmillan India Limited, Delhi (Reprinted 1984).

Selected Writings on Communalism, People's Publishing House (1994).

Singh, L.R. (Ed.): Nation Building and Development Process. Rawat Publications, Jaipur and New Delhi, 1994.

Thapar, Romila – Interpreting Early India, Oxford University Press (Delhi) (Second Impression 1994).

Vivekananda, Swami – My India, The India Eternal, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, (Fourth Reprint 1997).